

## भारतीय कला

आनन्दवृत्तिमूलक कलासर्जना किसी भी व्यक्ति की अन्तःसत्ता से सम्बद्ध एक ऐसी ध्येयनिष्ठ प्रक्रिया है जो रसद्रवित कलाकार के वाह्य प्रयत्न से ही सिद्ध हो पाती है। आत्मोपलब्धि, आत्मविकास तथा आत्माभिव्यक्ति ही कला की मूल हेतु हैं। तन्मयता तथा तदाकार परिणति की यह शक्ति ही कला को अन्य शास्त्रों तथा विद्याओं से पृथक् करती है और यही उसकी चरम सार्थकता है। रसवत्ता और सौन्दर्यसम्पन्नता कला के अनिवार्य तत्व हैं।

“कला का विशेष मूल्य इस बात में है कि वह मनोमय जगत और भूतमय जगत् के मध्य में एक सेतु है। इस पुल में चढ़ कर हम जान सकते हैं कि मनुष्यों ने राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण में एक ओर कितना सोचा था और दूसरी ओर कितना निर्माण किया था। जैसे विद्वान् लेखक प्रन्थ लिख जाते हैं।<sup>1</sup>

वास्तु, मूर्ति एवं चित्र—ये सभी कलाएँ भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण सौन्दर्याधायक अंग हैं, किंवा संस्कृति का निर्माण करने वाले तत्त्वों में से ही एक हैं। किसी भी देश की सांस्कृतिक प्रगति को मापने के लिए वहाँ की कलाओं की स्थिति तथा कला नैपुण्य भी एक आधार है। अतः भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण स्वरूप के ज्ञान के लिए भारतीय कला का अध्ययन करना अनिवार्य ही है। कला को जाने बिना संस्कृति का पूर्ण आकलन सम्भव ही नहीं है।

संसार की प्राचीन जीवित कलापरम्पराओं में भी भारतीय कला की परम्परा विशिष्ट ही है।

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण—भारतीय कला—भूमिका—पृष्ठ 5

इतिहास के अबाध प्रवाह में भारतीय कला का क्रम भी अनवरत बना रहा और इसकी विपुल कलानिधि भी श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण रही। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में "भारतीय कला को दीर्घकालीन 'रूपसत्र' कहना उचित है जिसने देश के प्रत्येक भूभाग में अपना अर्थ अपित किया। इस रूपसमृद्धि में अनेक जातियों ने भाग लिया है किन्तु इसकी मूलप्रेरणा और अर्थव्यंजना मुख्यतः भारतीय ही है। जब भारतीय संस्कृति का प्रसार समुद्र पार और पर्वतों के उस पार हुआ तब भारतीय कला के रूप और उसके अर्थ भी उन उन देशों में बद्धमूल हुए।

.... द्वीपान्तर या हिन्देशिया से लेकर मरुचीन या मध्यएशिया तक का विशाल भूखण्ड भारतीय कला की मेघवृष्टि से उत्पन्न फुहारों से भर गया।<sup>2</sup> समय के अनवरत गति में प्रकृति के सहज प्रहारों तथा मनुष्य की क्रूरता के कारण अधिकांशतया ध्वस्त हो जाने पर भी भारतीय कला का जो भाण्डार बचा रह गया, वह भी अपने आलोक से विश्व को चमत्कृत किए हुए है। इस चमत्कृति के मूल में भारतीय कला की कतिपय निजी विशेषताएँ हैं।

**1. भावाभिव्यक्ति**—भारतीय कला भावों की अभिव्यक्ति को ही प्रधानता देकर विकसित हुई है। किसी भी कला के तीन प्रमुख रूप हो सकते हैं—आकृतिमूलक कला का मुख्य उद्देश्य सौन्दर्य आकृति का निर्माण करना होता है। प्रतिकृतिमूलक कला में रमणीय प्राकृतिक घटनाओं, पशुपक्षियों अथवा व्यक्तियों की यथार्थ प्रतिकृति बना कर उन्हें मनोहर बना दिया जाता है। किन्तु अभिव्यक्तिमूलक कला किसी न किसी अमूर्त भाव को अभिव्यक्त करती है। कला का यही रूप सर्वाधिक कठिन है। भारतीय कला में अभिव्यक्ति की ही प्रधानता है। बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक भावों के अंकन में ही भारतीय कलाकार का मन अधिक रमा है। बुद्ध की मूर्तियों की मुख की दिव्य शान्ति इसका प्रमाण है।

**2. धार्मिकता**—भारतीय कला में धर्मतत्व की प्रधानता है। यहाँ कला कला के लिए न होकर आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के लिए है जिससे व्यक्ति स्वतः ही परमतत्व की ओर उन्मुख हो जाता है। भारत के बद्धमूल धार्मिक विश्वासों, विचारों और परम्पराओं की गहरी छाप भारतीय स्थापत्य कला, मूर्ति कला तथा चित्रकला पर दृष्टिगोचर होती है। भारतीय कला के प्रारम्भिक किंवा पूर्ण विकसित समय में भी यह धर्म के साधन रूप में ही प्रस्फुटित एवं पल्लवित होती हुई दिखाई देती है। सिन्धु सभ्यता से लेकर परवर्ती काल तक किसी भी प्रकार की मूर्तियाँ हों या उनके चारों ओर अलंकरण के लिए बनाई गई अन्य मूर्तियाँ, वास्तुकला के अन्तर्गत चैत्य, स्तूप, देवगृह (मन्दिर) ध्वजस्तम्भ आदि सभी धर्म से ही सम्बद्ध थे। इसी प्रकार चित्र, नृत्य, गीत आदि सभी कलाएँ भारत में धर्म से ही अनुप्राणित दृष्टिगोचर होती हैं। मूर्ति, चित्र, नृत्य, वास्तु आदि को प्रारम्भ करते समय विविध पूजा का विधान भारतीय कला की धार्मिकता को ही स्पष्ट करता है।

**3. दार्शनिकता**—यह सुविदित है कि भारतीय कला के विकास के मूल में आध्यात्मिक

2. अग्रवाल, वासुदेव शरण—भारतीय कला—पृष्ठ 1

चेतना की प्रेरणा थी। भारतीय कलाकार ने आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना एवं दार्शनिक सत्यों की देशना के लिए कलाकृतियों की सर्जना की थी। पारमार्थिक सत्य का ज्ञान अतीन्द्रिय है किन्तु श्रेष्ठ कलाकार अपनी कृति की मुद्रा, आसन, भावभंगिमा तथा अन्य प्रतीकों के द्वारा आंशिक रूप में परमसत्य को मूर्त रूप देने की शक्ति रखता है। चोलयुगीन नटराज शिव की कांस्य मूर्ति इसका सुन्दर उदाहरण है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नटराज शिव की नाट्यशाला है। शिव के नृत्य में सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुप्रह—ये पाँचों क्रियाएँ समवेत होती हैं। नटराज की मूर्ति में कलाकार ने इन पाँचों क्रियाओं को मूर्तिमान करते हुए शैव दर्शन के सिद्धान्तों का संक्षिप्त प्रतिनिधित्व ही प्रस्तुत कर दिया है।

**4. प्रतीकात्मकता**—भारतीय कला कहती नहीं, अपितु व्यंजित अथवा ध्वनित करती है। इसका मूल उद्देश्य केवल सौन्दर्य की सृष्टि करना नहीं है अपितु किसी परम तत्त्व की व्यंजना करना है। धर्म की प्रेरणा से अनुप्राणित होने के कारण भारतीय कला में उन तत्त्वों की व्यंजना है जो भारतीय दर्शन के मूल सिद्धान्त हैं। इसीलिए भारत की कला में स्थूलता की अपेक्षा प्रतीकात्मकता है। हंस, कमल, चक्र, स्वस्तिक आदि अनेक प्रसिद्ध कला-प्रतीक हैं। हंस परमेश्वर का प्रतीक है। धर्म और कर्म के द्वन्द्व को, समय की गतिशीलता को और जीवन के अनवरत प्रवाह को चक्र का प्रतीक अभिव्यक्त करता है। स्वस्तिक का चिन्ह जीवन में स्वस्ति (कल्याण) भावना का बोधक है। इनसे स्पष्ट है कि भारतीय कला प्रतीकात्मकता से परिपूर्ण है।

**5. पारम्परीयता**—भारतीय कला का एक प्रमुख वैशिष्ट्य है इसका परम्परागत होना। किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि यह कला जड़, विकास रहित, एकरूप अथवा आकृतिमूलक मात्र हो गई। परम्परा पर आधारित होने का अभिप्राय एक प्रकार का अनुशासन अथवा नियमबद्धता है। वास्तु हो, मूर्ति हो अथवा चित्र हो, कलाकार एक विशेष अनुपात और शैली के सम्बन्ध में पारम्परिक नियमों से प्रभावित होते हुए भी समाधि और ध्यान से प्रेरणा प्राप्त करके तल्लीनता पूर्वक कृतियों के निर्माण में रत रहा करते थे। इसी पारम्परीयता के कारण ही भारतीय कला में व्यक्तिगत प्रतिभा के साथ क्रमबद्धता का अद्भुत सम्मिश्रण दिखाई देता है।

**6. सामाजिकता**—भारतीय कला में व्यष्टि के स्थान समष्टि को महत्व प्राप्त हुआ। यह कला एक विश्वजनीन उत्सुकता अथवा अपूर्णता को पूर्ण करती है अतः समाज की अविभाज्य अंग है। कला से आत्मबोध के साथ साथ जगद्बोध भी है। इसीलिए भारतीय कला सम्पूर्ण समाज का इतिहास है।

**7. लोकप्रतिबद्धता**—भारतीय कला की एक विशेषता यह है कि वह लोक को साथ लेकर चलती है। यह 'दर्शिता विश्वरूपा' है; इसमें लोक का सर्वांगीण जीवन प्रतिबिम्बित है। वर-यात्रा, विवाह, जन्मोत्सव, युद्ध, विभीषिका, मृत्यु का त्रास आदि के दृश्य कला में लोक जीवन के सुख दुखपूर्ण वैविध्य को प्रदर्शित करते हैं। वृक्ष, लता, पत्र, पुष्प, पक्षी आदि सभी भारतीय कला में सर्वत्र प्राप्त होते हैं और उनके बिना भारतीय कला अपूर्ण है।

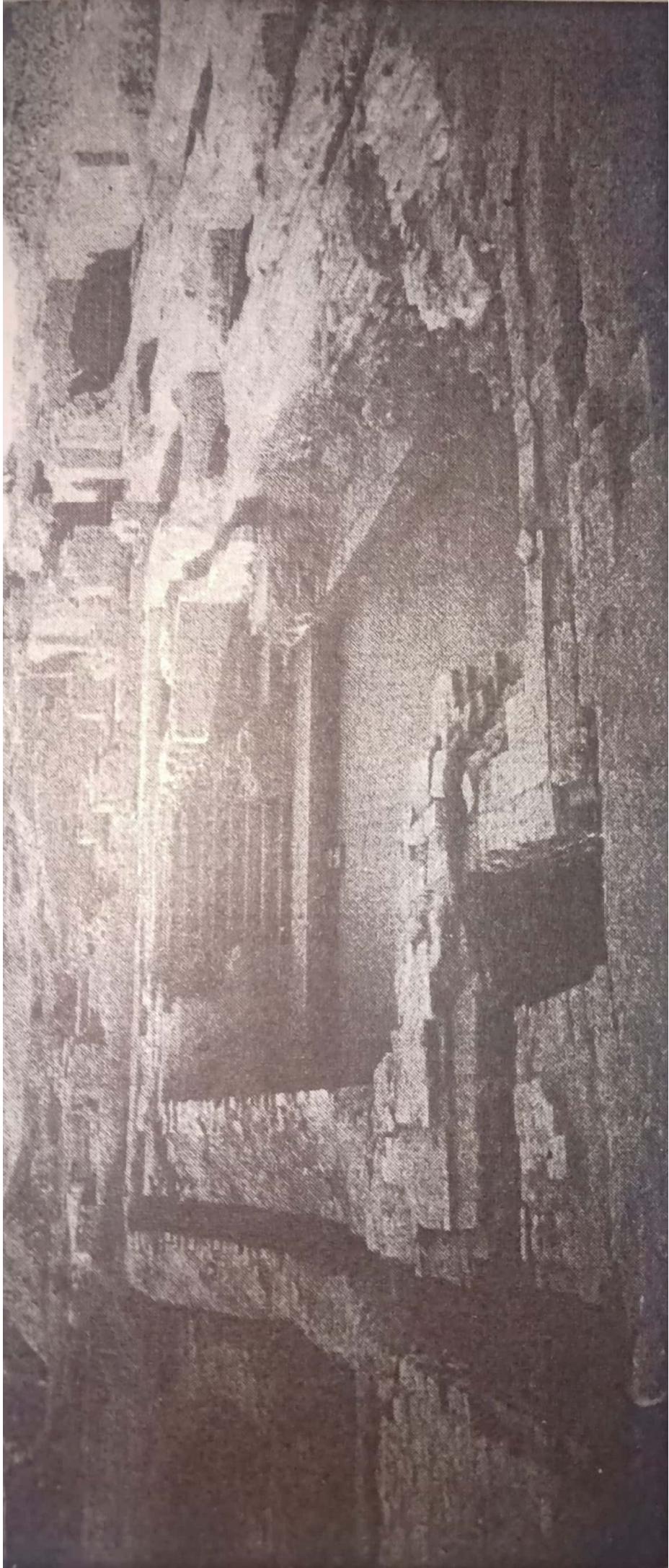
**8. अनामता—**भारतीय कला का एक अन्यतम वैशिष्ट्य है उसकी अनामता। नाम अथवा यश की इच्छा मानव की सहज मूल प्रवृत्ति है। इसीलिए धन (वित्तेषणा), पुत्र (पुत्रैषणा) तथा यश या नाम (लोकैषणा) की सहज इच्छाओं में नाम की इच्छा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया। किन्तु भारतीय कलाकार ने लोकैषणा से सर्वथा मुक्त होकर अपनी कला को अत्यन्त उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया। भारत में कला को मूलतः शिल्प माना गया था। कलाकार शिल्पी था। शिल्पी के रूप में उसकी कृति में ही उसका अस्तित्व होता था और वैयक्तिक ख्याति को दम्भ माना जाता था। इसी कारण प्राचीन भारत की अधिकांश कलाकृतियों के रचयिताओं का नाम अज्ञात ही रहा है। इन कृतियों द्वारा अभिव्यक्त अनुभव सर्वव्यापी तथा सर्वनुभूत है। यह व्यक्तियों का नहीं वरन् मानव मात्र का अनुभव है। इसीलिए अजन्ता के चित्रकार अथवा एलीफेण्ट गुफाओं के मूर्तिकार का नाम कोई नहीं जानता, लेकिन उन चित्रों तथा मूर्तियों की सम्पूर्ण विश्व सराहना करता है।

भारत में कला का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत रहा है। आचार्यों ने सौ से भी अधिक कलाओं का उल्लेख किया है किन्तु प्रमुखतया चौंसठ कलाएँ ही मानी गई हैं। इन कलाओं का विस्तार मानव जीवन के विविध सभी कार्य कलापों तक हैं। चौंसठ कलाओं में भी कुछ कलाएँ अधिक प्रमुख एवं समृद्ध हैं यथा नृत्य, गीत, नाट्य, काव्य, वास्तु, मूर्ति, चित्र आदि। इस अध्याय में अन्य सभी कलाओं की अपेक्षा भारत की वास्तु कला, मूर्तिकला एवं चित्रकला का ही संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

### वैदिक युग

भारतीय जनमानस वेदों को समस्त ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओं का आधार स्वीकार करता है, किन्तु तत्कालीन सभ्यता के नितान्त विकसित होने पर भी वैदिक युग की वास्तु, चित्र अथवा मूर्ति कला के कोई भी चिह्न उपलब्ध नहीं होते। इसके दो कारण खोजे जा सकते हैं। प्रथमतः वैदिक युग में यज्ञानुष्ठान ही प्रमुख था। यज्ञों के लिए विशाल मण्डपों का, और चित्र विचित्र वेदियों आदि का निर्माण अवश्य होता रहा होगा। पशुबलि के लिए यूप स्तम्भ भी गाड़े जाते थे; किन्तु इन सबका अस्तित्व यज्ञ की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाता था। अतः उस युग में कला की अभिव्यक्ति के लिए कोई स्थायी आधार न होने के कारण कलाएँ विशेषतया विकसित ही नहीं हो पाई। द्वितीयतः, उस युग में कला का प्रमुख उपकरण एवं आधार लकड़ी था। लकड़ी पर वायु, जल, कीड़ों आदि का शीघ्र एवं सुगम प्रभाव होता है। अतः भारत की आर्द्ध जलवायु, वायु के तीव्र थपेड़ों एवं दीमक आदि के प्रभाव के कारण तत्कालीन कला का कोई भी अवशेष नहीं बचा। इस प्रकार भारतीय कला का प्रारम्भिक इतिहास अन्धकार में ही ढँका हुआ है। इस अवधि में कला के स्वरूप का अनुमान तत्कालीन साहित्यिक संदर्भों के आधार पर ही किया जा सकता है। प्रायः ही उनकी पुष्टि पुरातात्त्विक अवशेषों से नहीं की जा सकती।

आर्यसंस्कृति में कला का प्रारम्भिक इतिहास ज्ञात न होने पर भी दस्यु अथवा दास संस्कृति कही जाने वाली सिन्धु घाटी की सभ्यता कला की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। हड्ड्पा तथा मुअन-जो



Scanned with CamScanner



मुअन जोटड़ो की  
मिट्टी की मुहरें

दड़ो की खुदाई में प्राप्त विभिन्न वस्तुओं ने कला-मर्मजों को आश्चर्याभिभूत कर दिया। उस समय वास्तु, मूर्ति, चित्र, नृत्य, संगीत, आदि विभिन्न कलाओं की अत्यन्त परिष्कृत समृद्धि थी। अन्य समस्त उपलब्ध मूर्तियों, मुहरों, बरतनों पर बनी आकृतियों आदि को छोड़ दिया जाए तो भी वास्तुकला एवं मूर्तिकला के अनुपम नमूने सिन्धु घाटी में प्राप्त हुए हैं। नगर का सुनियोजित निर्माण, स्नानागार, महान् स्नान कुण्ड (चित्र 1) आदि तत्कालीन स्थापत्य का वैशिष्ट्य बताते हैं। हड्पा में प्राप्त नर्तकी की काँसे की मूर्ति (चित्र 2) तथा लाल पत्थर का एक मूर्ति का धड़, मुअन-जो-दड़ो में प्राप्त बैल तथा बन्दर की आकृतियाँ इस कला की प्रतिनिधि कृतियाँ हैं। शैली की सशक्त सहजता, आकृति के विभिन्न अनुपातों का उत्कृष्ट ज्ञान, हर्ष एवं उल्लास की परिपूर्णता तथा जीवन के स्पन्दन से युक्त ये कृतियाँ भारतीय कला को अत्यन्त उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित कर देती हैं। 'इन आकृतियों में अनुभव तथा कौशल की पर्याप्त परिपक्वता का परिचय मिलता है क्योंकि इनमें विभिन्न पदार्थों को कलाकार के हाथों से स्फूर्तिमय आकृतियों का रूप देकर सामंजस्य तथा गति का भाव उत्पन्न किया गया है।'

सिन्धु घाटी की सभ्यता के कला अवशेषों के उपरान्त सहस्रों वर्षों तक कला-इतिहास नितान्त अन्धकाराच्छन्न है। लगभग 2500 ईसा पूर्व से लेकर 250 ईसा पूर्व तक का दीर्घकाल एक ऐसा युग है जिसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के उपलब्ध प्रमाण प्रायः नागण्य ही हैं। 'इसलिए मौर्यकाल से पहले के भारत की कला का इतिहास भाषा की दृष्टि से एक सादे पृष्ठ और पुरातत्व की दृष्टि से एक खाली आलमारी की भाँति है।' समय के इस अन्तराल के मध्य में हुए कला के विकास को तत्कालीन ग्रन्थों के उल्लेखों में केवल सिद्धान्ततः ही जाना जा सकता है।

### मौर्य युग

नन्दवंश के पतन के उपरान्त मौर्यवंश की स्थापना भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर सम्राट अशोक पर्यन्त मौर्य शासन की शान्ति और सुव्यवस्था ने कलाओं के बहुमुखी विकास के लिए उपयुक्त वातावरण की सृष्टि कर दी। यही कारण है कि कला की दृष्टि से मौर्य युग नूतनता, मौलिकता एवं प्रयोगों का युग था। मौर्य युगीन कला ने सुन्दरता, अभिव्यक्ति-प्रवणता तथा सुदृढ़ता की दृष्टि से भारतीय कला के इतिहास में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है।

प्राचीन भारत की कला का इतिहास वास्तव में अशोक से प्रारम्भ होता है। अशोक ने ही सर्वप्रथम भवन अथवा स्तम्भ अथवा मूर्ति निर्माण आदि में लकड़ी के स्थान पर पत्थर का प्रयोग प्रारम्भ किया, जिससे कला को स्थायी आधार मिला। मौर्यकालीन कला सहसा प्रबल आवेश से इतिहास के रंगमंच पर छा गई; यह तथ्य तत्कालीन कला की प्रविधि और उसमें प्रयुक्त सामग्री दोनों ही में स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। अशोक की कलाप्रियता का सर्वाधिक श्रेय बौद्ध धर्म को जाता है। अशोक ने बौद्ध धर्म अंगीकार करने के बाद धर्म प्रचार के लिए बहुत अधिक स्मारक बनवाए। मौर्य युग के कला स्मारकों को चार भागों में बांटा जाता है।

(1) स्तूप, (2) स्तम्भ, (3) राज प्रसाद, (4) गुहाएँ।

दड़ो की खुदाई में प्राप्त विभिन्न वस्तुओं ने कला-मर्मज्ञों को आश्चर्याभिभूत कर दिया। उस समय वास्तु, मूर्ति, चित्र, नृत्य, संगीत, आदि विभिन्न कलाओं की अत्यन्त परिष्कृत समृद्धि थी। अन्य समस्त उपलब्ध मूर्तियों, मुहरों, बरतनों पर बनी आकृतियों आदि को छोड़ दिया जाए तो भी वास्तुकला एवं मूर्तिकला के अनुपम नमूने सिन्धु घाटी में प्राप्त हुए हैं। नगर का सुनियोजित निर्माण, स्नानागार, महान् स्नान कुण्ड (चित्र 1) आदि तत्कालीन स्थापत्य का वैशिष्ट्य बताते हैं। हड्पा में प्राप्त नर्तकी की काँसे की मूर्ति (चित्र 2) तथा लाल पत्थर का एक मूर्ति का धड़, मुअन-जो-दड़ो में प्राप्त बैल तथा बन्दर की आकृतियाँ इस कला की प्रतिनिधि कृतियाँ हैं। शैली की सशक्त सहजता, आकृति के विभिन्न अनुपातों का उत्कृष्ट ज्ञान, हर्ष एवं उल्लास की परिपूर्णता तथा जीवन के स्पन्दन से युक्त ये कृतियाँ भारतीय कला को अत्यन्त उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित कर देती हैं। 'इन आकृतियों में अनुभव तथा कौशल की पर्याप्त परिपक्वता का परिचय मिलता है क्योंकि इनमें विभिन्न पदार्थों को कलाकार के हाथों से स्फूर्तिमय आकृतियों का रूप देकर सामंजस्य तथा गति का भाव उत्पन्न किया गया है।'

सिन्धु घाटी की सभ्यता के कला अवशेषों के उपरान्त सहस्रों वर्षों तक कला-इतिहास नितान्त अन्धकाराच्छन्न है। लगभग 2500 ईसा पूर्व से लेकर 250 ईसा पूर्व तक का दीर्घकाल एक ऐसा युग है जिसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के उपलब्ध प्रमाण प्रायः नागण्य ही हैं। 'इसलिए मौर्यकाल से पहले के भारत की कला का इतिहास भाषा की दृष्टि से एक सादे पृष्ठ और पुरातत्व की दृष्टि से एक खाली आलमारी की भाँति है।' समय के इस अन्तराल के मध्य में हुए कला के विकास को तत्कालीन ग्रन्थों के उल्लेखों में केवल सिद्धान्ततः ही जाना जा सकता है।

### मौर्य युग

नन्दवंश के पतन के उपरान्त मौर्यवंश की स्थापना भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर सम्राट अशोक पर्यन्त मौर्य शासन की शान्ति और सुव्यवस्था ने कलाओं के बहुमुखी विकास के लिए उपयुक्त वातावरण की सृष्टि कर दी। यही कारण है कि कला की दृष्टि से मौर्य युग नूतनता, मौलिकता एवं प्रयोगों का युग था। मौर्य युगीन कला ने सुन्दरता, अभिव्यक्ति-प्रवणता तथा सुदृढ़ता की दृष्टि से भारतीय कला के इतिहास में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है।

प्राचीन भारत की कला का इतिहास वास्तव में अशोक से प्रारम्भ होता है। अशोक ने ही सर्वप्रथम भवन अथवा स्तम्भ अथवा मूर्ति निर्माण आदि में लकड़ी के स्थान पर पत्थर का प्रयोग प्रारम्भ किया, जिससे कला को स्थायी आधार मिला। मौर्यकालीन कला सहसा प्रबल आवेश से इतिहास के रंगमंच पर छा गई; यह तथ्य तत्कालीन कला की प्रविधि और उसमें प्रयुक्त सामग्री दोनों ही में स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। अशोक की कलाप्रियता का सर्वाधिक श्रेय बौद्ध धर्म को जाता है। अशोक ने बौद्ध धर्म अंगीकार करने के बाद धर्म प्रचार के लिए बहुत अधिक स्मारक बनवाए। मौर्य युग के कला स्मारकों को चार भागों में बांटा जाता है।

(1) स्तूप, (2) स्तम्भ, (3) राज प्रसाद, (4) गुहाएँ।

**1. स्तूप—**स्तूप उल्टे कटोरे के आकार का पत्थरों अथवा ईटों से बना हुआ ठोस गुम्बद होता है। अन्त्येष्टि क्रिया के बाद सन्तों की अस्थियों को सुरक्षित रखने वाले स्मारकों के रूप में स्तूपों की परम्परा आरम्भ हुई। इस प्रकार स्तूप को एक धार्मिक पवित्रता प्राप्त हो गई। स्तूप के ऊपर 'हर्मिका' होती है जिसके ऊपर 'छत्रयिष्ट' लगी रहती है। स्तूप के चारों ओर एक घेरा या जंगला बना होता है जिसमें चार मुख्य दिशाओं में एक एक फाटक होता है। यह घेरा प्रदक्षिणा के काम आता था। अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक ने भारत और अफगानिस्तान में 84000 स्तूपों का निर्माण कराया था। अशोक के नौ सौ वर्षों बाद चीनी यात्री हेन्त्सांग भारत आया था। उसने भी भारत भ्रमण करते समय अशोक बनवाए हुए सैकड़ों स्तूप देखे थे। किन्तु आज उनमें से अधिकांश नष्ट हो चुके हैं। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध साँची का विशाल स्तूप है। मूल स्तूप को बाद में विस्तृत किया गया था और उसके तोरण द्वारा शुंग युग के हैं।

**2. स्तम्भ—**अशोककालीन कला के सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वाधिक सुन्दर नमूने बलुआ पत्थर के बने हुए चिकने ओप (पालिश) युक्त स्तम्भ हैं। वर्तमान समय में दिल्ली, मेरठ तथा मध्य भारत में साँची से लेकर नेपाल की सीमा तक अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में अशोक के तेरह स्तम्भ मिलते हैं जिनकी स्थापना बुद्ध धर्म से सम्बन्धित स्थानों पर कराई गई थी। इन स्तम्भों के लिए शिलाएँ चुनार के पास पहाड़ से काटी गई थीं। इस पाषाण स्तम्भ के तीन भाग होते थे। भूमि के अन्दर का गड़ा हुआ भाग, मध्य का लम्बा दण्ड तथा ऊपर का शीर्ष। स्तम्भ का बीच का दण्डाकार भाग एक ही विशाल पत्थर को काट कर बनाया जाता था, तथा आधार की ओर मोटा और शीर्ष की ओर गोलाई में कम होता जाता था। अधिकतर स्तम्भ दण्डों पर अशोक की धर्मलिपियाँ अंकित हैं किन्तु कुछ सादे भी हैं। इनकी औसत ऊंचाई 40 फीट है, तथा इनके ऊपर बहुत बढ़िया पॉलिश है। यह ओप या पॉलिश भारतीय कला की ऐसी विशेषता है जो विश्व में अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होती। स्तम्भ का सबसे ऊपरी तीसरा भाग शीर्ष है, जिस पर उल्टा किया हुआ कमल का फूल, पशु मूर्तियाँ तथा पवित्र धर्म चक्र हैं।

अशोक के स्तम्भों में सबसे सुन्दर स्तम्भ शीर्ष सारनाथ के मृगदाव में खड़ा किया गया था, जहाँ बुद्ध ने सबसे पहले आर्य सत्य चतुष्टय का उपदेश दिया था (धर्म चक्र प्रवर्तन)। स्तम्भ दण्ड के सिरे पर पंखुड़ियों से ढंके हुए कमल का अलंकरण है। इस कमल के ऊपर एक गोल गला है जिसमें चार दिशाओं में चार धर्म चक्र और चार अवान्तर दिशाओं में दौड़ते हुए चार महान् पशु—हाथी, बैल, घोड़ा और सिंह उकेरे गए हैं। गले के ऊपर एक दूसरे से पीठ सटा कर उकड़ूँ बैठे हुए चार सिंह हैं। मूलतः सिंहों के मस्तकों के ऊपर बीचों-बीच बिठाया हुआ एक विंशाल चक्र था जो बाद में कभी टूट कर गिर गया। गले पर उकेरे गए धर्मचक्रों में 24 अरे हैं, किन्तु सबसे ऊपर वाले चक्र में 32 अरे थे। (चित्र 3) स्तम्भ शीर्ष की पूरी ऊंचाई 7 फीट और चौड़ाई दो फीट दस इंच हैं। इसमें कमलाकृति अधिष्ठान ऊंचाई में 2 फीट, बीच में गोल गला 1 फीट 2 इंच तथा उसके ऊपर सिंह 3 फीट 9 इंच ऊँचे हैं। सारनाथ का सिंहशीर्ष स्तम्भ कला की दृष्टि से शिरोमणि है तथा



चित्र 3  
सारनाथ स्तम्भ का सम्भावित मूल रूप



Scanned with CamScanner

मानव हाथों के उत्कृष्ट कौशल की पराकाष्ठा को प्रदर्शित करता है। इन पर बनी हुई सारी अनुकृतियाँ इतनी सजीव और वास्तविक हैं कि दर्शन उन्हें देखकर मन्त्रमुग्ध रह जाता है। इसमें अंकित सारे प्रतीक चिह्न एक गम्भीर जीवन दर्शन को प्रगट करते हैं। अशोक के अन्य स्तम्भों पर शीर्ष में सिंह के स्थान पर बैल, हाथी, घोड़े तथा गरुड़ की मूर्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। (चित्र 4)

स्तम्भ शीर्ष के गले पर उकेरे गए हाथी, बैल, घोड़ा और सिंह के सम्बन्ध में डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी का यह मत है कि ये पशु बुद्ध की जीवनी के प्रतीक हैं। सिंह साक्षात् बुद्ध का चिन्ह है क्योंकि वह शाक्यसिंह कहे जाते थे। बैल उनके जन्मकाल को सूचित करता है क्योंकि बुद्ध वृषभ नक्षत्र में जन्मे थे। हाथी बुद्ध के मातागर्भ में आने का प्रतीक है क्योंकि गर्भस्थिति के समय उनकी माता ने स्वप्न में एक हाथी को ऊपर से उतरते हुए देखा था। घोड़ा बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण को प्रगट करता है। धर्मचक्र बुद्ध के आर्यसत्य चतुष्टय उपदेश के प्रतीक हैं।

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार सारनाथ स्तम्भ के सम्पूर्ण शीर्ष के विचार को समाट अशोक की मौलिक कल्पना ही माना जाना चाहिए “सबसे ऊपर का धर्मचक्र उसके धार्मिक विश्वास का परिचायक था, चार सिंह उसकी दुर्धर्ष शक्ति के प्रतीक थे और अंड के चार छोटे चक्र, चार पशु विविध समाज और उसकी एकता के द्योतक थे। चार पशु मानों एक ही सामाजिक देवता के चार रूप थे जो चार वर्णों में और उनके विविध आचारों में व्याप्त हैं। चार धर्मचक्र समाज के चतुष्टय विधान में पिरोई हुई एकता के सूचक हैं। सम्राट् और प्रजा के जीवन की पारस्परिक एकता चार सिंहों, चार चक्रों और चार पशुओं से सूचित होती है। सम्राट् का प्रभविष्णु रूप और प्रजा का मृदुल रूप एक दूसरे के पूरक हैं। अशोक के सिंहों के समान बलशाली होकर भी अपने आपको प्रजा के कल्याण के लिए समर्पित कर दिया था।<sup>3</sup>

**3. राजाप्रासाद—चन्द्रगुप्त मौर्य** ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में एक विशाल और अति भव्य राजप्रासाद का निर्माण कराया था। मेगस्थनीज के लेखानुसार यह मौर्य प्रासाद ईरान की राजधानी सूसा के राजप्रासाद से भी कहीं अधिक सुन्दर और सुसज्जित था। अशोक ने भी अनेक मनोहर राजभवन बनवाए। पांचवीं शती का चीनी यात्री फाहयान इनको देखकर आश्चर्यचकित रह गया था। उसने लिखा है कि ‘पत्थर चुनकर दीवारें और द्वार बनाए गए हैं। उन पर सुन्दर नक्काशी है। इस लोक के मनुष्य उन्हें नहीं बना सकते। वे अब तक नए लगते हैं।’ किन्तु ये भव्य भवन पूर्णतया विध्वंस हो गए।

पटना के निकट कुमराहार से उत्खनित काष्ठनिर्मित स्तम्भों मात्र के रूप में अब उनकी स्मृति शेष है। खुदाई में केवल सभाभवन की रूपरेखा और खम्भों के टुकड़े मिले हैं। लकड़ी और ईटों का सारा काम नष्ट हो गया। इनमें सबसे अधिक असाधारण अवशेष अस्सी स्तम्भों वाले विशाल कमरे के हैं, जिसे ‘चन्द्रगुप्त सभा’ कहा जाता है।

3. अग्रवाल, वासुदेव शरण—भारतीय कला—पृष्ठ 117

**4. गुहाएँ—पाषाण युगीन मानव भी पर्वतों की प्राकृतिक गुहाओं अथवा कन्दराओं को अपनी शरण स्थली बनाया करता था। कालान्तर में पर्वतों को काट कर गुफाओं अथवा शिलाश्रयों के निर्माण की परम्परा चल पड़ी। अशोक और उसके पौत्र दशरथ ने अनेक गुहागृहों का निर्माण कराया था। ये बौद्ध भिक्षुओं के रहने के निवास स्थल थे और सभा भवन अथवा उपासना गृह के रूप में भी इनका प्रयोग होता था। ऐसा गुफा समूह (सात गुफाएँ) गया जिले में फलगू नदी के बाएँ किनारे पर पहाड़ियों के एक निर्जन क्रम में स्थित हैं। चार गुफाएँ बराबर की पहाड़ी में और तीन गुफाएँ नागार्जुनी पहाड़ी में हैं। बराबर का प्राचीन नाम प्रवरगिरि था। ये गुहाएँ कठोर तेलिया पत्थर को काटकर बनाई गई हैं तथा उनकी आन्तरिक दीवारों पर ऐसा बढ़िया ओप (पालिश) है कि वे दर्पण की भाँति चमकती हैं। यहाँ प्राचीन ओपकला अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। कठोर शिलाओं को काटकर 30-40 फीट लम्बी गुफाएँ बनाने और उसके अन्तर्भाग को घुटाई के द्वारा चिकना कर देने में जितने अपूर्व कौशल और अथक परिश्रम की आवश्यकता हुई होगी, उसका केवल अनुमान लगाया जा सकता है। इन सभी गुफाओं में भी वास्तु कला की दृष्टि से लोमस ऋषि की गुफा अपने वर्ग में श्रेष्ठ मानी जाती है। इसका द्वारा सबसे विशिष्ट है। यहाँ पत्थर में उल्कीर्ण अलंकरण पूर्ववर्ती काष्ठशिल्प से लिए गए हैं।**

स्तूपों, गुहाओं आदि में प्राप्त कला के अतिरिक्त मौर्य काल में मूर्तिकला का भी पर्याप्त विकास हो चुका था। मथुरा के पास परखम गाँव में प्राप्त 7 फीट ऊँची यक्षमूर्ति, बेसनगर में प्राप्त 6 फीट 7 इंच ऊँची यक्षिणी की मूर्ति और पटना के दादारगंज से प्राप्त चामरग्राहिणी की मूर्ति उल्लेखनीय है। ये मूर्तियाँ उस अन्तरिम समय की बनाई हुई जात होती हैं जब कलाकारों ने लकड़ी के स्थान पर पाषाण को अपनी कला का आधार बनाना प्रारम्भ किया था। अशोक स्तम्भों के शीर्षों की भाँति ये भी बलुए पत्थर से बनाई गई थी। इन मूर्तियों के अधिक नमूने उपलब्ध न होने के कारण इस काल की मूर्तिकला शैली के सम्बन्ध में विस्तृत ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

### शुंग, कुषाण, सातवाहन युग

मौर्यों के पतन से लेकर गुप्त नरेशों के उदय तक की पाँच शताब्दियाँ भारतीय कला के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस युग में स्थापत्य और मूर्तिकला का बहुत विकास हुआ। अशोक के राज्यकाल में कला के विकास की जो प्रगति प्रारंभ हुई थी, वह शुंगों, कुषाणों तथा सातवाहन नरेशों की छत्रछाया में न केवल प्रगतिशील रही अपितु उसमें नए विचारों और नई तकनीक का भी समावेश हुआ। साँची, भरहुत, बुद्धगया, गान्धार, मथुरा, अमरावती तथा नागार्जुनी कोंडा में विभिन्न प्रकार की कलाशैलियों ने जन्म लिया। इनमें प्रथम तीन प्रधानतः शुंगकाल (द्वितीय एवं प्रथम शती ईसा पूर्व) से सम्बद्ध हैं और शेष कुषाण सातवाहन काल (अर्धशती ईसा पूर्व से ईसा की प्रारम्भिक तीन शतियों) से सम्बद्ध मानी जाती हैं। कला की दृष्टि से यह पूरा समय समग्र रूप में ही ग्रहण किया जाता है किन्तु शुंग और कुषाण सातवाहन युगों की कला में दो मूलभूत अन्तर दिखाई देते हैं। ‘पहले काल में बुद्ध की कोई प्रतिमा या मूर्ति नहीं बनी, उन्हें सर्वत्र चरण, छत्र, पादुका, धर्मचक्र,

आसन, कमल या स्वस्तिक के संकेत से प्रगट किया गया; किन्तु दूसरे काल में बुद्ध की मूर्तियाँ खूब बनने लगीं। दूसरी विशेषता यह है कि भरहुत, साँची और बुद्ध गया के कलाकारों का विषय यद्यपि बौद्ध है, उनका उद्देश्य स्तूपों को अलंकृत करना है किन्तु मूर्तियाँ धार्मिक न होकर यथार्थवादी, प्राकृतिक और ऐन्ड्रियिक हैं। इनमें धर्मतत्त्व की प्रधानता नहीं, किन्तु लोक कला का सच्चा प्रतिबिम्ब है। यह कला बौद्ध धर्म के द्वारा अनुप्राणित नहीं, प्रत्युत उस समय प्रचलित लोककला का बौद्ध धर्म की आवश्यकताओं के अनुसार बदला हुआ रूप है।'

**भरहुत—सतना (मध्यप्रदेश)** से नौ मील दक्षिण तथा इलाहाबाद से 120 मील दक्षिण पश्चिम की ओर मध्यभारत में भरहुत नामक स्थान पर एक विशाल स्तूप था जिसका समय दूसरी शती ईसा पूर्व के मध्य में निश्चित किया गया है। भरहुत का स्तूप शुंग काल की परिष्कृत वास्तु संरचनाओं में परिगणित किया जाता है। दुर्भाग्य से यह स्तूप तो विनष्ट हो गया किन्तु इसकी वेष्टनियों (चारों ओर का घेरा) तथा तोरणों के अवशेष कलकर्ता के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। ये तोरण तथा वेष्टनियाँ बुद्ध के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले दृश्यों के मूर्ति शिल्प से अलंकृत हैं। इनमें जेतवन के दान का दृश्य विशेष रूप से दर्शनीय है। इसके अतिरिक्त इनमें लगभग चालीस जातक कथाओं को भी उकेरा गया है। अनेक दृश्यों के नीचे मूर्ति का विषय लिखा हुआ है। भरहुत की कला में पशुओं, पक्षियों, सर्पों आदि की मूर्तियाँ अत्यन्त सजीव एवं स्वाभाविक हैं। ये सारे दृश्य भारत के लोकजीवन का वास्तविक परिचय कराते हैं। इनमें तत्कालीन वेषभूषा, आमोद-प्रमोद तथा धार्मिक विश्वासों पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

**बुद्ध गया—वर्तमान गया नगर** के छह मील दक्षिण की ओर प्राचीन उरुविल्व नामक ग्राम में बोध गया का मन्दिर है। बुद्ध ने इसी स्थल पर सम्बोधि प्राप्त की थी। और यह जान कर सम्राट अशोक ने यहाँ बोधि गृह का निर्माण कराया था। शुंगकाल में इस बोधिगृह का पुनर्नवीकरण कर दिया गया। इस मन्दिर की एक वेदिका पर अहिच्छत्र के राजा इन्द्रमित्र और मथुरा के राजा ब्रह्ममित्र की रानियों के नाम खुदे हैं। ये दोनों राजा शुंगों के सामन्त थे। इस मन्दिर के चारों ओर एक छोटी सी बाड़ बनी हुई है। इस पर बने हुए कमलों और पशुपक्षियों के अलंकरण बहुत कुछ भरहुत जैसे होते हुए भी उससे कहीं अधिक सुन्दर हैं।

**साँची—प्राचीन विदिशा (वर्तमान भेलसा)** से छह मील दूर साँची नामक स्थान है। लगभग 300 फीट ऊंची तथा कछुए की पीठ के सदृश साँची की पहाड़ी पर अशोक के समय से लेकर नवीं शती ईस्वी तक लगभग 1200 वर्षों तक निर्माण कार्य होता ही रहा।<sup>4</sup>

साँची के तीन स्तूप सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

**स्तूप संख्या एक**—यह महास्तूप नाम से प्रसिद्ध है तथा साँची की मुख्य पहाड़ी पर अवस्थित है। इटों द्वारा बनाया गया इसका मूल रूप अशोककालीन है तथा इसमें बुद्ध के अस्थि अवशेष रखे

4. अग्रवाल, वासुदेव शरण—भारतीय कला—पृष्ठ 160-161

गए थे। (चित्र 5)

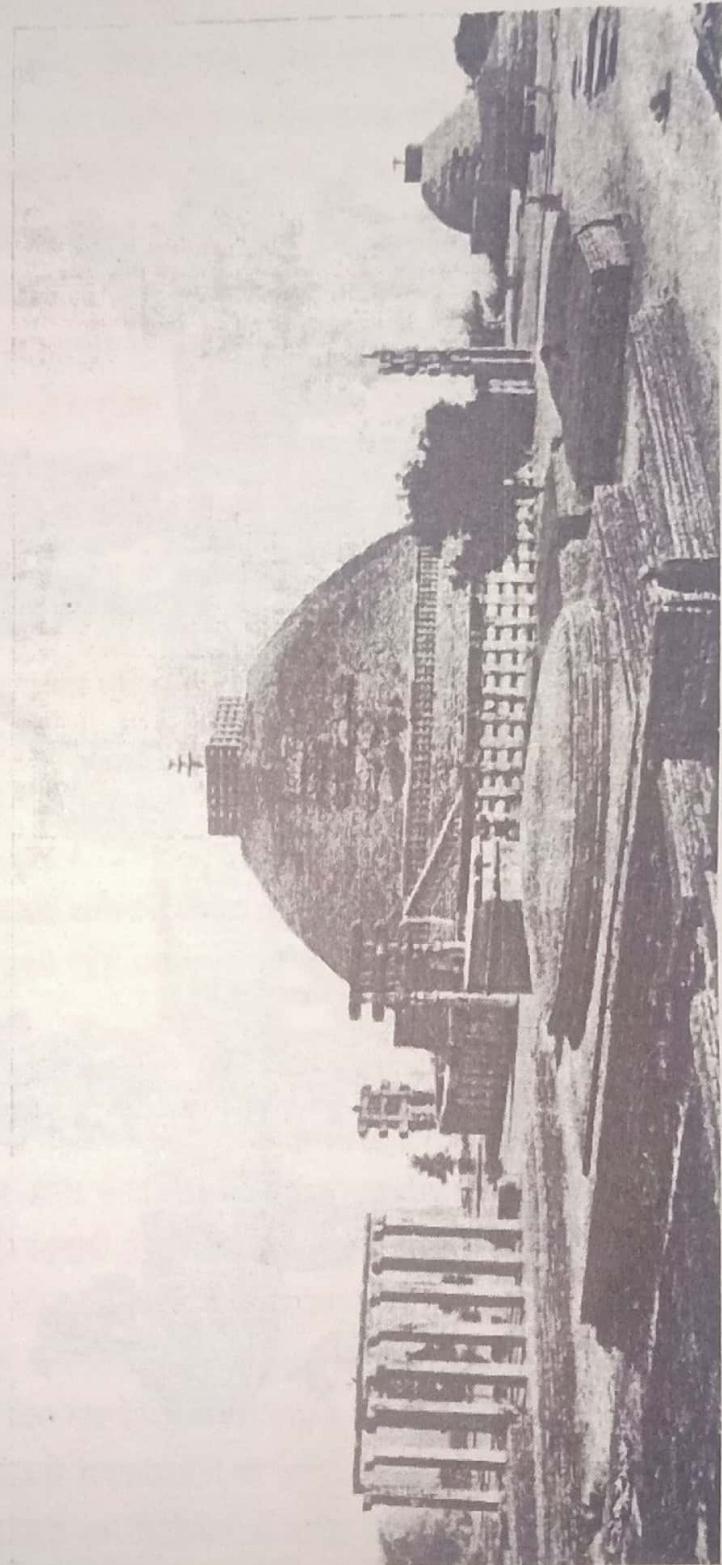
**स्तूप संख्या दो—**यह स्तूप मुख्य पहाड़ी के पश्चिम की ओर स्थित है और इसमें अशोक के समकालीन प्रमुख धर्मप्रचारकों की अस्थियाँ भूगर्भस्थ की गईं।

**स्तूप संख्या तीन—**यह स्तूप भी मुख्य पहाड़ी पर है और इसमें बुद्ध के दो प्रिय शिष्यों, शारिपुत्र और महामौदगल्यायन के अस्थिअवशेष और फूल सुरक्षित हैं।

साँची में महास्तूप सहित अनेक स्तूपों का निर्माण किए जाने के कारण उस स्थान को महाचैत्यगिरि कहा जाने लगा था। सम्पूर्ण भारत में प्राप्त होने वाले सभी स्तूपों में साँची का महास्तूप (स्तूप संख्या एक) सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा पूर्णतः विकसित है। इस स्तूप का मूल भाग अशोक के काल में ईटों से बनाया गया था, तथा शुंगकाल में उसे शिलाकंचुक से ढक दिया गया। इसी शुंगकाल में महास्तूप के चारों ओर की चार दिशाओं में चार बड़े तोरण द्वारा बनाए गए। स्तूप के दक्षिण तोरण के सामने अशोक का एकाश्मक स्तम्भ है जिसमें संघभेद करने वाले भिक्षुभिक्षुणियों के लिए दण्डविधान उत्कीर्ण है। शुंगकाल में शिलाओं से मूल इष्टिका स्तूप को ढक कर इसका व्यास दुगुना बढ़ा कर 126 फुट और ऊँचाई 54 फीट कर दी गई थी। इस महास्तूप तथा तोरण के निर्माण में जनता के दान का प्रचुर सहयोग रहा। स्तूप की वेदिका पर सैकड़ों की संख्या में खुदे हुए दानसूचक लेखों से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

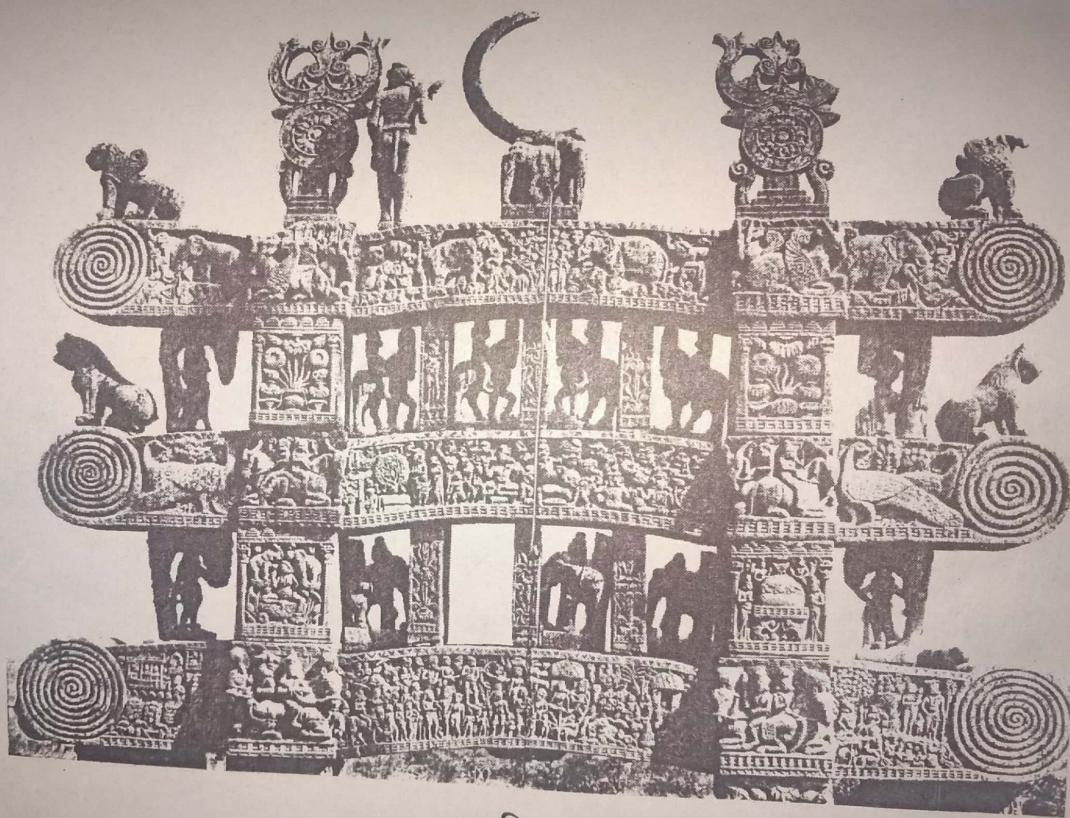
महास्तूप की सर्वोपरि विशेषता उनके चारों तोरण द्वारा है। दक्षिण तोरण द्वारा सर्वप्रथम बनाया गया था। उसके बाद उत्तरदिशा का तोरण द्वारा बना, किन्तु सर्वाधिक सुरक्षित् यही उत्तरी तोरण द्वारा है (चित्र 6)। प्रत्येक तोरण की ऊँचाई 34 फीट है। चारों तोरण आकार में एक जैसे हैं तथा प्रत्येक में दो शीर्ष युक्त स्तम्भ हैं। इन स्तम्भों में ऊपर की ओर बीच में से तनिक कमानीदार तीन बड़ेरियाँ हैं। ये तोरण और बड़ेरियाँ नानाविध मूर्तियों, धर्मचक्र, त्रिरत्न आदि अलंकृत हैं। स्तम्भों के निचले भाग में द्वारा रक्षक यक्ष, ऊपर बड़ेरियों का भार वहन करने के लिए चहुंमुखी हाथी एवं वामन तथा वृक्ष के नीचे खड़ी मुद्रा में यक्षिणियों का मूर्ति अंकन किया गया है। इनके अतिरिक्त नाना प्रकार के फूलपत्तियों, पशु पक्षियों तथा यक्षादि लोक देवों की मूर्तियाँ भी उकेरी गई हैं। साँची की कला का विषय तो भरहुत के सदृश ही है, किन्तु इनमें शिल्प एवं कल्पना की प्रौढ़ अधिक उत्कृष्ट है।

**मथुरा शैली—**लोकप्रसिद्ध तीर्थ एवं व्यापारिक केन्द्र होने के कारण भारत में पर्याप्त प्राचीन काल से मथुरा की प्रसिद्धि रही। यह एक ऐसा स्थल था जहाँ ब्राह्मण, बौद्ध और जैन-तीनों ही धर्मों की प्रगति अनेक शतियों तक समान रूप से होती रही। कुषाण राजाओं की राजधानी बन जाने पर यह नगर कला का भी प्रसिद्ध केन्द्र बन गया। भरहुत की अनगढ़ लोक कला तथा साँची का उच्च कोटिक शिल्प—दोनों मिल कर कुषाण युग में मथुरा शैली बन गए। बौद्ध धर्म में महायान के उदय के साथ-साथ बुद्ध की मूर्तियाँ बननी प्रारंभ हो गई। ये सभी मूर्तियाँ सफेद चित्ती वाले लाल रवादार पत्थर की हैं। मथुरा से इस काल की असंख्य छोटी बड़ी बुद्ध, बोधिसत्त्व, यक्ष, नाग आदि की मूर्तियाँ



चित्र 5

सांची का महास्तप



चित्र 6  
सांचीके महास्तूप का उत्तरी तोरणद्वार

मिली हैं। मथुरा शैली की मूर्तियों के मुख की आध्यात्मिक अभिव्यंजना उन्हें अन्य शैली की मूर्तियों से स्पष्टतः अलग कर देती है।

**गान्धार शैली**—गान्धार शैली पर यूनानी कला का स्पष्ट प्रभाव है। भारत के पश्चिमोत्तर गान्धार प्रदेश पर यूनानियों का दीर्घ काल तक अधिकार रहा था; अतः गान्धार प्रदेश यवन मूर्तिकला का केन्द्र बन गया था। कुषाण शासक कनिष्ठ का भारतीय साम्राज्य मथुरा से मध्य एशिया और रोमन साम्राज्य की सीमाओं तक फैला हुआ था, तथा वह भारतीय, चीनी, रोमन तथा ईरानी सांस्कृतिक प्रभावों का संगम बन गया था। ऐसी परिस्थिति में गान्धार कला का जन्म हुआ। बौद्ध धर्म प्रहण कर लेने पर गान्धार कलाकारों ने बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखने वाली बुद्ध, बोधिसत्त्व, अवलोकितेश्वर आदि की अनेक मूर्तियाँ ध्यान, अभय, वरद आदि अनेक मुद्राओं में बना डालीं। इस कला शैली के अवशेष तक्षशिला, पाकिस्तान के उत्तरपश्चिमी प्रान्त तथा अफगानिस्तान में अनेक प्राचीन स्थानों पर प्राप्त हुए हैं। इन अवशेषों में अधिकांशतः बुद्ध की मूर्तियों के अतिरिक्त बौद्ध कथाओं के विभिन्न दृश्यों को पत्थर पर उत्कीर्ण किया गया है। पत्थर के अतिरिक्त चूने मसाले की तथा पकाई हुई मिट्टी से बनी हुई भी कतिपय मूर्तियाँ मिली हैं।

गान्धार मूर्तिकला की कुछ निजी विशेषताएँ हैं। इस कला ने मानव शरीर का वास्तविक समानुपातिक अंकन किया। विशेषतः मांसपेशियों का सूक्ष्म अंकन और बोधिसत्त्वों की मूर्तियों में मूँछों का अंकन यूनानी आदर्शों को प्रगट करता है। इस शैली में मूर्तियों के परिधान भी विशिष्ट रूप में अंकित हैं। इसमें शरीर से बिल्कुल सटे हुए, अंग प्रत्यंग झलकाने वाले पारदर्शक या अर्ध पारदर्शक वस्त्र अंकित हैं; अथवा मोटे वस्त्रों का प्रदर्शन करते समय वस्त्रों की सलवटें बहुत सूक्ष्मता से प्रदर्शित की गई हैं। गान्धार शैली की मूर्तियों में अनुपम नक्काशी, विस्तृत अलंकरण तथा जटिल प्रतीक हैं।

**अमरावती शैली**—दक्षिण भारत में कृष्णा नदी के निचले भाग में इस शैली का विकास हुआ। यहाँ अमरावती नामक स्थल पर ईसा पूर्व दूसरी शती के एक स्तूप के अवशेष मिले हैं, जिसके चारों ओर आन्ध्र सातवाहन नरेशों ने संगमरमर की बाड़ या वेष्टनी बनवाई थी और ईंटों से बने पूर्वकालीन स्तूप को संगमरमर के ही बड़े-बड़े पत्थरों से ढँक दिया। सारी वेष्टनी पर असंख्य मूर्तियाँ और अलंकार बने हैं। ‘इनमें बुद्ध को प्रतीकों और मूर्तियों दोनों प्रकारों से व्यक्त किया गया है अतः यह भरहुत-साँची तथा मथुरा-गान्धार कलाओं का संक्रान्ति काल माना जाता है।’ बुद्ध जन्म के प्रतीक हाथी को जिस रूप में यहाँ उकेरा गया है, वैसा अन्यत्र अज्ञात है। ‘एक ही शिलापट पर एक भाग में बोधिसत्त्व से अवतरित होने की प्रार्थना की जा रही है, मध्यभाग में वायों सहित एक रथ पर हाथी को ले जा रहे हैं तथा तीसरे भाग में मायादेवी का सपना उत्कीर्ण है।’ यहाँ बुद्ध की छह फीट से भी ऊँची खड़ी हुई मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनकी मुखमुद्रा उदासीन, अत्यन्त गम्भीर एवं वैराग्य भाग से सम्पन्न है। विभिन्न दृश्य फलकों में वनस्पतियों और कुसुमों के, प्रधानतया कमलपुष्पों के अलंकरण बहुत सुन्दर हैं।

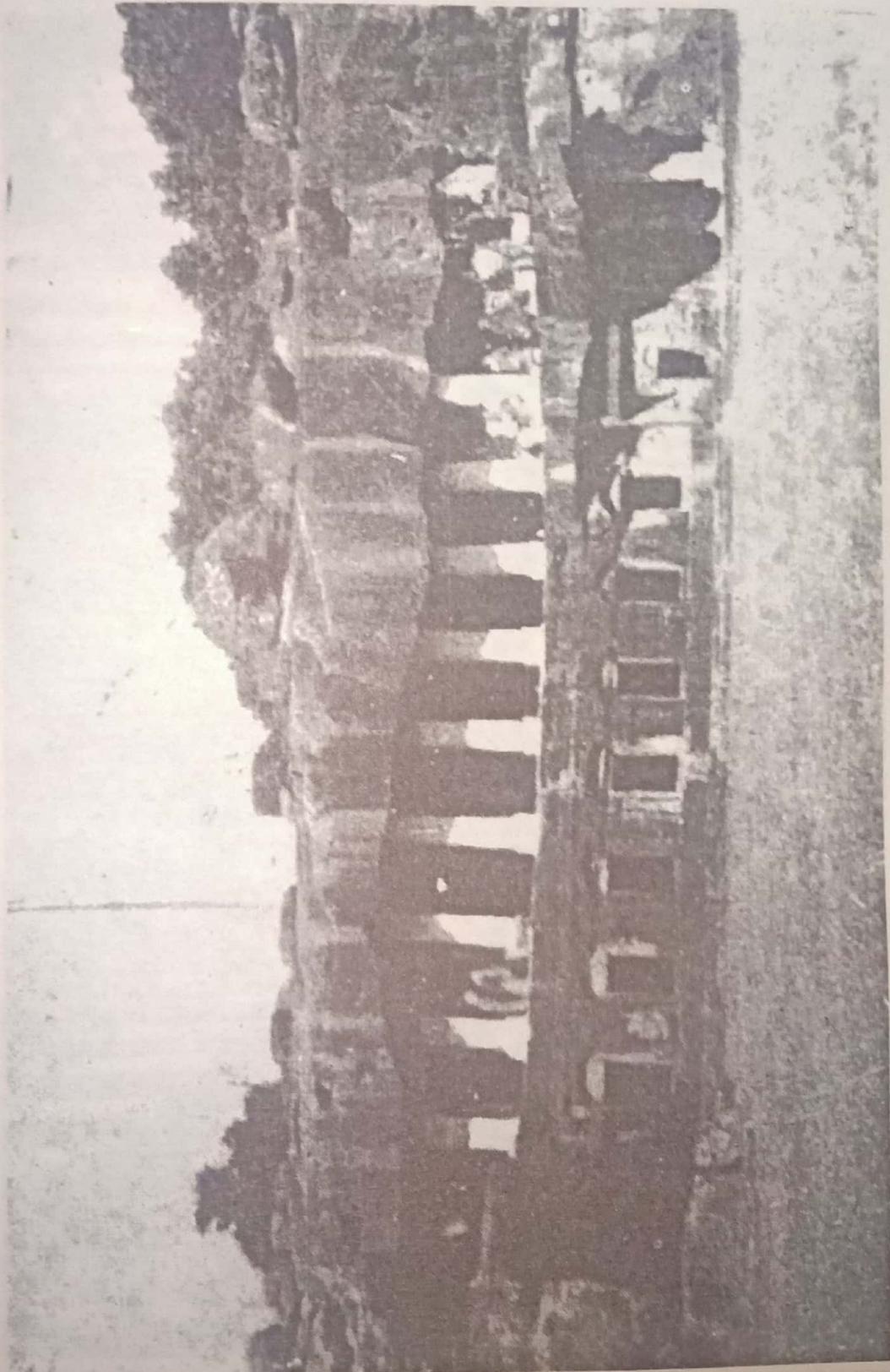
गुहावास्तु—इस युग की वास्तुकला प्रधानतः पहाड़ों की चट्टानों को काटकर बनाई गई गुहाएँ हैं। ये गुहाएँ प्रायः दो प्रकार की हैं—विहार एवं चैत्य। विहार बौद्ध भिक्षुओं के निवास स्थल थे और चैत्य उनके पूजागृह थे। पहाड़ों को खोदकर बनाए गये गुहाविहार और गुहा चैत्य आज भी अपनी सम्पूर्ण भव्यता के साथ विद्यमान हैं।

सबसे प्राचीन गुहाविहार का पता पश्चिमी घाटी में पूना के पास भाजा में मिलता है जो ईसा पूर्व का माना जाता है। पूर्वी घाटों में खण्डगिरि तथा उदयगिरि में कई सौ बौद्ध और जैन विहार हैं। उन्हीं में हाथीगुफा या हाथी गुफा का विहार है जो खारवेल के अभिलेख के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हो गया है। उदयगिरि समूह की सर्वाधिक प्रसिद्ध गुफा रानी गुफा है। (चित्र 7) यह गुफा दोमंजिली है तथा इसे अनेक प्रकार के दृश्यों की उकेरी से सजा दिया गया है। महाराष्ट्र में नासिक, काले आदि अनेक स्थानों पर गुहाविहार तथा गुहा चैत्य मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आन्ध्र सातवाहन राजाओं में गुहाओं के निर्माण की बहुत अभिरुचि थी। मौर्य युग की गुहाएँ बहुत छोटी थीं। इस युग की गुहाएँ अति विशाल और पूरे बौद्ध विहार हैं।

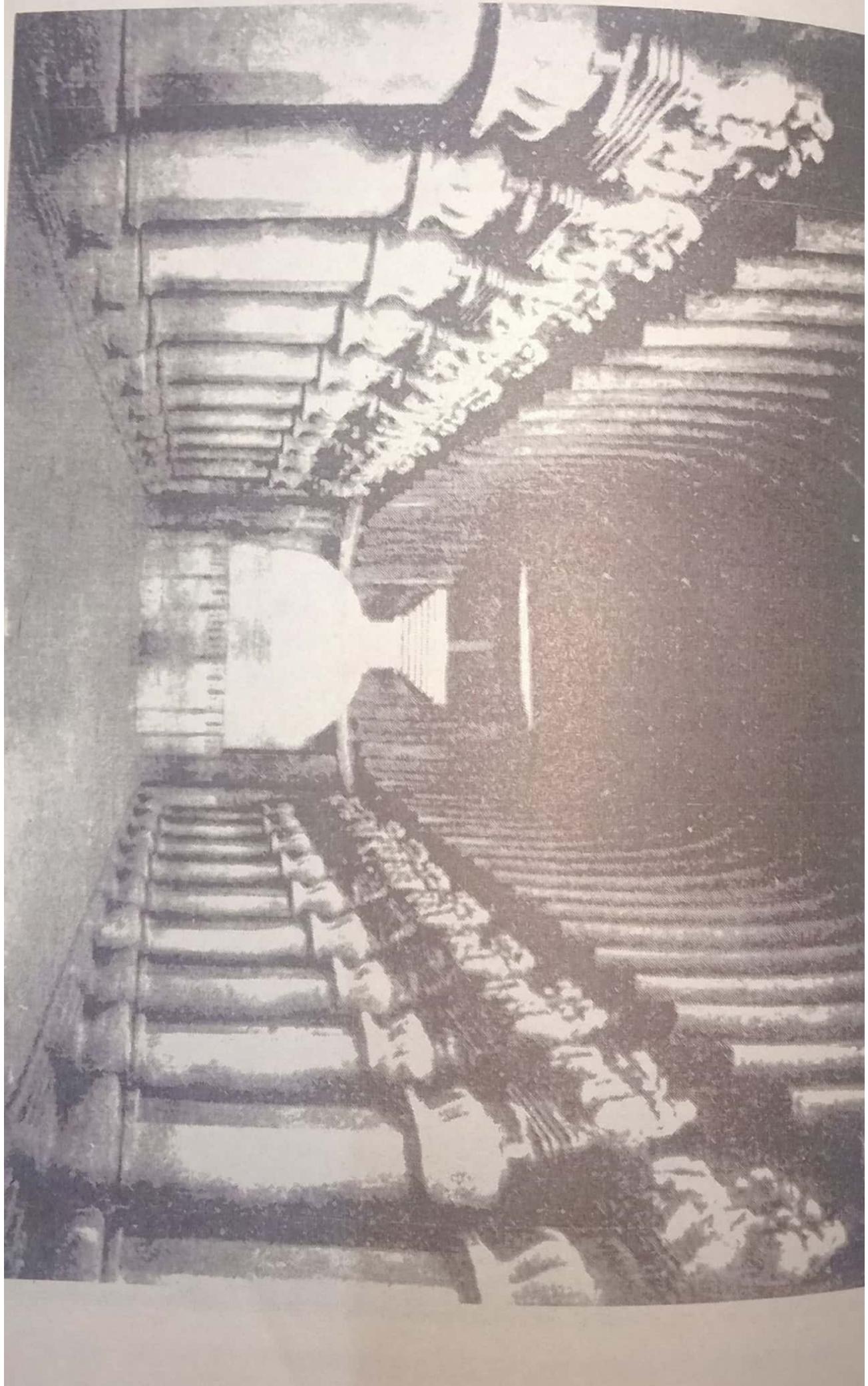
इस काल के चैत्यों में कालें का चैत्य अत्यन्त भव्य तथा मनोहर है। बम्बई से लगभग 78 मील दूर भोखाट की पहाड़ियों में कालें की गुफाएँ हैं। यहाँ तीन विहार और एक भव्य चैत्यशाला है। यह चैत्य मन्दिर अपनी श्रेणी के सब चैत्यगृहों में श्रेष्ठ है और तत्कालीन वास्तुशिल्प की उन्नति को भली प्रकार प्रदर्शित करता है। (चित्र 8) कालें का चैत्यगृह द्वार से लेकर पिछली दीवार तक 124 फीट लम्बा, 25 फीट चौड़ा तथा 45 फीट ऊँचा है। भीतर का स्तूप नलाकार है तथा उसमें दो वेदिका पथ हैं। भवन के मुख्य भाग तथा पार्श्व के बरामदों के बीच में स्तम्भ हैं जिनके शीर्ष ईरान के पर्सीपोलिस के स्तम्भ शीर्षों के समान हैं। उनके ऊपर छत के गोलाकार पत्थर तक काठ के धरन रखे हैं। लकड़ी और पत्थर के संयुक्त प्रयोग के ये अन्तिम अनोखे नमूने हैं। द्वार के बाहर मूलतः पत्थर के दो ध्वनि स्तम्भ थे जिनमें से एक अब भी खड़ा है। कालें के स्तम्भ का दण्ड सोलह पहल का है। स्तम्भ के शीर्ष पर पद्मकोष अलंकरण है। उसके ऊपर एक चौकी है जिस पर बैठे हुए चार सिंह हैं।

कालें में तीन गुहाविहार भी हैं किन्तु उनका निर्माण सामान्य स्तर का है। इनमें एक विहार द्विभूमिक तथा एक विहार त्रिभूमिक है।

सात वाहन काल में कन्हेरी में मानों एक गुहामयी नगरी का ही निर्माण कर दिया गया। यह स्थल बम्बई से सोलह मील उत्तर और बोरिविली स्टेशन से पाँच मील दूरी पर है। इसका प्राचीन नाम कृष्णगिरि था। बौद्ध भिक्षुओं के लिए यहाँ पर अनेक प्रकार की तथा अनेक परिमाण की सैकड़ों गुफाएँ बनाई गई थीं इन गुहाओं में सोने के लिए आसन पीठिकाएँ भी बनाई गई थीं। और नलियों तथा हौदियों के द्वारा पानी का भी अच्छा प्रबन्ध किया गया था। इस गुहासमूह में भी विशिष्टतम् यहाँ का चैत्यगृह है जो कालें के चैत्य के नमूने पर बनाया गया। किन्तु कलात्मक दृष्टि से कालें चैत्य के सदृश नहीं हैं। चैत्य का भीतरी मण्डप 86-1/2 फीट लम्बा, 40 फीट चौड़ा और फर्श से छत



चित्र 7  
उद्यगिरि-रानी गुम्फा



Scanned with CamScanner

तक 38 फीट ऊँचा है। मण्डप के दोनों ओर स्तूप के पीछे चौंतीस स्तम्भों की पंक्ति है। लगभग आधे ही स्तम्भों पर शीर्षकों के अलंकरण हैं। शीर्षों पर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं किन्तु वे काले जैसी सुन्दर नहीं हैं। गर्भगृह के वृत्तभाग में 16 फीट व्यास का सादा स्तूप बना हुआ है। इस चैत्यगृह के सम्मुख एक बड़ा प्रांगण अथवा आंगन है जो अन्य चैत्यगृहों में नहीं प्राप्त होता। आंगन के एक सिरे पर एक वेदिका है जिसके खम्भों और सूचियों पर विविध अलंकरण हैं। आंगन के दोनों छोरों पर दो बड़े पाश्वर स्तम्भ हैं जो पीछे की ओर चट्टान से जुड़े हैं। ये स्तम्भ आकार और ऊँचाई में काले कीर्तिस्तम्भ की भाँति हैं। इन स्तम्भों के शीर्ष भाग पर तीन यक्षों के मस्तक पर आश्रित चौकी पर तीन सिंहों की सुन्दर मूर्तियाँ हैं। किन्तु समस्त शिल्पसौन्दर्य अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली है।

इस युग में कुछ अन्य स्तम्भ भी बने। इनमें यूनानी राजदूत हेलियोदोर के द्वारा विदिशा में विष्णु मन्दिर के सम्मुख स्थापित गरुड़ ध्वज सर्वाधिक प्रसिद्ध है। किन्तु इन स्तम्भों में अशोक के स्तम्भों की भाँति चमक नहीं हैं।

### गुप्तकाल

सौन्दर्य और भावों को प्रगट करने की दृष्टि से गुप्त युग में सभी कलाओं ने अत्यन्त उन्नति की। भारतीय इतिहास में स्वर्ण युग के रूप में विख्यात इस काल में भारतीय कला यवन प्रभाव से सर्वथा मुक्त होकर अपनी पराकाष्ठा तक जा पहुँची। चाहे वास्तु, मूर्ति, अथवा स्थिर कलाएँ हों अथवा काव्य, संगीत या अभिनय आदि गतिशील कलाएँ हों; सभी का उत्कर्ष चरम सीमा को पहुँच गया। इस युग की कला विचारों और भावनाओं को अभिव्यक्त करने का एक परिमार्जित तथा परिष्कृत माध्यम बन गई। इसीलिए विद्वानों ने इस युग की कला को 'न भूतो न भविष्यति' कहा है।

**स्थापत्य—**गुप्तकाल में स्थापत्य के क्षेत्र में नवीन पद्धति और नवीन योजना का उभीलन दृष्टिगोचर होता है। गुप्तकाल से पूर्व ही भारतवर्ष में भक्ति का विकास हो चुका था और वैष्णव तथा शैव धर्म पर्याप्त उन्नति कर चुके थे। बुद्ध और बोधिसत्त्व की प्रतिमाओं के साथ साथ हिन्दू देवी देवताओं का मूर्ति शिल्प भी विकसित हो गया था। इन मूर्तियों के साथ स्वभावतः ही देवालयों अथवा मन्दिरों का निर्माण करना भी एक सांस्कृतिक आवश्यकता बन गया।

**1. मन्दिर—**गुप्तकाल के मन्दिरों का वैशिष्ट्य उनकी सादगी, सन्तुलन और उपयोगिता है। सपाट छत वाले वर्गाकार तथा शिखर युक्त गोलाकार दोनों प्रकार के गुप्तकालीन स्थापत्य के कुछ मन्दिर उत्तरप्रदेश बिहार, बंगाल और मध्यप्रदेश में मिलते हैं। इनमें कानपुर के पास भीतरगाँव का ईटों का बना मन्दिर अपनी सुरक्षित और उत्तम साँचे में ढली ईटों के कारण विशेषतः उल्लेखनीय है। इसकी छत पर शिखर है। साँचों के मन्दिर में वर्गाकार गर्भगृह तथा सामने एक छोटा सा बरामदा है। इस मन्दिर की छत सपाट है। झाँसी में देवगढ़ का दशावतार मन्दिर ऊँचे चबूतरे पर स्थित है। इस मन्दिर की छत सपाट है। झाँसी में देवगढ़ का दशावतार मन्दिर ऊँचे चबूतरे पर स्थित है। इसके गर्भगृह का शिखर 40 फीट ऊँचा था। गर्भगृह के पथर के स्तम्भों पर अनेक सुन्दर मूर्तियाँ बनी हैं। मध्यप्रदेश में भूमरा नामक स्थान पर नितान्त भग्न दशा में एक शैव मन्दिर मिला है जिसका

गर्भगृह बचा है। उसके द्वार स्तम्भ पर दाई ओर मंकर-वाहिनी गंगा और बाई ओर कूर्म वाहिनी यमुना हैं। मध्यप्रदेश में ही सागर नगर के निकट एरण में गुप्तकालीन तीन मन्दिरों के अवशेष प्राप्त होते हैं—विष्णुमन्दिर, वराहमन्दिर तथा नृसिंह मन्दिर। इन मन्दिरों में गर्भगृह सपाट छतवाला था तथा मण्डप स्तम्भों पर आधारित था। गुप्त स्थापत्य के अन्य अवशेष तिगवा (जबलपुर) का विष्णु मन्दिर, बोधगया का महाबोधि मन्दिर तथा खोह (नागोद) का शिव मन्दिर हैं जिसमें सुन्दर एकमुखी शिवलिंग है। आजकल हर हिन्दू मन्दिर में शिखर अवश्य होता है। गुप्तयुग में ही मन्दिर स्थापत्य के लिए सपाट छत का शिखर युक्त छत में विकास हुआ।

2. स्तूप—गुप्तयुगीन दो स्तूप आज भी प्राप्त होते हैं एक राजगिर में दूसरा सारनाथ में। सारनाथ का धमेख स्तूप 128 फीट ऊंचा है और उसमें चार मुख्य दिशाओं में चार आले या ताख हैं जिनमें बुद्ध की मूर्तियाँ थी। इस स्तूप को ऊपर से पत्थर के टुकड़ों से ढँका गया था। इन पत्थरों पर रेखागणित की विविध आकृतियों के स्वस्ति चिह्न, डण्ठल युक्त हिलोंरे लेते हुए कमल, जलपक्षी एवं जलजन्तु तथा सुन्दर अलंकरण उत्कीर्ण किए गए हैं। (चित्र 9)

3. गुहाएँ—गुप्त युग की गुहाओं में अजन्ता की पहाड़ी को काट कर बनाई गई गुफाओं का विशेष स्थान है। ये गुफाएँ विभिन्न समयों की हैं। इनमें लकड़ी का उपयोग कहीं नहीं किया गया है। (चित्र 10) विद्वानों ने इन गुफाओं में देवी देवताओं की मूर्तियों के प्रचुर अंकन के कारण इन्हें शैलकृत मन्दिर (पहाड़ी चट्टानों को काटकर बनाए गए मन्दिर) का नाम दिया है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में मध्यप्रदेश के उदयगिरि में गुफा खुदवाई गई। उसके द्वार के दोनों ओर चार द्वारपालों की मूर्तियाँ बनी हैं। चौखट के ऊपरी भाग में गंगा और यमुना की मूर्तियाँ हैं। गुहा के बाई ओर वराह अवतार की एक भीमकाय प्रतिमा है। दक्षिण में इसी समय विष्णुकुंडिनों ने मोगुलराजपुरम् और उंडविल्ली में गुफाएँ खुदवाई, जो रूपरेखा में उदयगिरि की गुफा के समान हैं। उंडविल्ली की गुहाएँ तिमंजिली हैं।

4. स्तम्भ—गुप्तयुग में अनेक स्तम्भों का भी निर्माण हुआ। अधिकतर ये पत्थर के बने हैं। किन्तु महरौली का स्तम्भ लोहे का है। अशोक ने बौद्ध धर्म प्रचार के लिए स्तम्भों को धर्मलिपि खुदवाने के लिए बनवाया था। किन्तु गुप्तयुग में कुछ स्तम्भ मुख्य विजयों के सूचक कीर्तिस्तम्भ हैं, कुछ धर्म चिन्ह युक्त ध्वजस्तम्भ हैं और कुछ मन्दिर के निर्माण या युद्ध में मृत्यु के सूचक स्मारक स्तम्भ हैं। ये अशोक युगीन स्तम्भों से भिन्न हैं। इनके निचले भाग गोलाकार नहीं हैं और न उन पर चिकना ओप (पॉलिश) है।

**मूर्तिकला**—इस युग के कलाकारों ने बाह्य अंग प्रत्यंग का अनुकरण मात्र न करके आन्तरिक और आध्यात्मिक भावों को अपनी सुन्दर मूर्तियों के द्वारा प्रगट किया। गुप्तकाल में मूर्तियों की आकृति अत्यन्त विशाल और संवेदनशील होने लगी; मुद्राओं के प्रयोग में स्पष्टतः एक परिपक्वता आ गई; मूर्तियों में परिधानों को अंकित करने की कला एक उत्कृष्ट परम्परा बन गई और अब सिद्धान्त तथा उसकी अभिव्यक्ति में एकरूपता हो गई।

गुप्त काल में बनी हुई मूर्तियाँ पूर्व युगीन मूर्तियों से अनेक दृष्टियों में भिन्न हैं। इनके वर्ख



चित्र 9  
सारनाथ-धमेख स्तूप



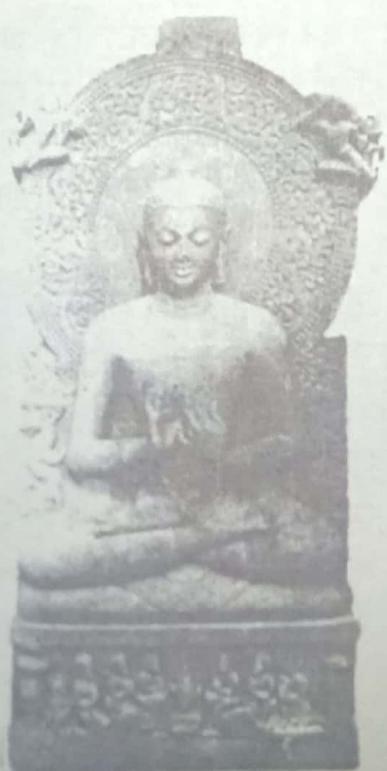
Scanned with CamScanner



मथुरा की गुप्तकालीन बुद्ध मूर्ति



गुप्तकालीन ताप्र बुद्ध



चित्र 11

सारनाथ की गुप्तकालीन बुद्ध मूर्ति



तख्त-इ-बाही बुद्ध गंधार प्रकार

चिकने और पारदर्शक दिखाए गए हैं; प्रतिमाओं के वक्षस्थल पूरी तरह से विकसित दिखाए गए हैं जिनसे मूर्ति में सजीवता और शक्ति आ गई है; मूर्तियों के मुख के प्रभामण्डल को रेखाओं के द्वारा अत्यन्त सुन्दर और अलंकृत बनाया गया है तथा भौंहे तिरछी न बना कर सीधी बनाई गई हैं। सारनाथ में गुप्तकालीन मूर्तियों के लिए चुनार के सफेद बलुआ पत्थर का प्रयोग किया गया है। ये मूर्तियाँ मुख्यतः बौद्ध; जैन तथा हिन्दू धर्मों से संबंध रखती हैं।

**1. बौद्ध मूर्तियाँ—**इस युग में मूर्तिकला के तीन प्रसिद्ध केन्द्र थे—मथुरा, सारनाथ तथा पाटलिपुत्र। (चित्र 11) तीनों केन्द्रों में बनी हुई बुद्ध की मूर्तियाँ कला के सर्वोत्कृष्ट सजीव उदाहरण हैं। कला के प्रसिद्ध समालोचक हेवेल ने सारनाथ की धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में बनी हुई बुद्ध मूर्ति को गुप्त काल की शिल्पकला का सर्वोत्तम नमूना माना है। उसका कहना है कि यह मूर्ति बुद्ध के आधिदैविक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व का सबसे अच्छा प्रदर्शन है। इसी प्रकार मथुरा में प्राप्त बुद्ध की खड़ी हुई मूर्ति में करुणा, मुदिता, मैत्री आदि भावों का अद्भुत सम्मिश्रण है। इनके अतिरिक्त भी गुप्त युग में ध्यान, भूमिस्पर्श, अभय और वरद मुद्राओं वाली बैठी अथवा खड़ी हुई बहुत सी बुद्ध मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। सुल्तानगंज से मिली 7 ऊँची फीट ताँबे की बुद्ध मूर्ति इस समय बरमिंघम म्यूजियम में है। यह अभयमुद्रा में है।

गुप्त युग में बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाओं को भी शिलाखण्डों में उत्कीर्ण किया गया। लुम्बिनी वन में बुद्ध जन्म, गया में सम्बोधि, सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्तन, कुशीनगर में महापरिनिर्वाण आदि घटनाओं के शिलाखण्ड सारनाथ और कलकत्ता के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। इस युग में अवलोकितेश्वर, मैत्रेय, मंजुश्री आदि बोधिसत्त्वों की भी अति सुन्दर मूर्तियाँ बनीं।

**2. जैन मूर्तियाँ—**हिन्दू और बौद्ध धर्मों से पहले ही जैन धर्म में मूर्तिपूजा प्रचलित हो चुकी थी। गुप्तकाल में जैन भक्तों के लिए महावीर की सुन्दर मूर्तियाँ बनाई गईं। मथुरा में कुमारगुप्त के राज्यकाल में बनी हुई वर्धमान महावीर की मूर्ति मिली है। महावीर सिंहासन पर पद्मासन लगाए हुए ध्यान मुद्रा में बैठे हैं। आसन के मध्य भाग में एक चक्र बना है जिसके दोनों ओर मनुष्य की एक-एक आकृति है। आसन के नीचे अभिलेख में मूर्तिनिर्माण का काल खुदा है।

**3. हिन्दू मूर्तियाँ—**गुप्त सम्राट् परम वैष्णव थे। इस युग में वैष्णव धर्म से सम्बद्ध देवताओं के साथ-साथ शिव, दुर्गा आदि की भी सुन्दर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उदयगिरि गुहा की दीवार पर चतुर्भुज विष्णु की मूर्ति बनी है। देवगढ़ के मन्दिर में शेषशायी विष्णु की विशाल मूर्ति है जिसके पैरों की ओर लक्ष्मी बैठी है। नाभि से निकले कमल पर चतुर्भुज ब्रह्मा की मूर्ति है; सामने और नीचे अनेक आयुध पुरुष बने हैं। मूर्ति के ऊपरी भाग में शिव, पार्वती, इन्द्र तथा कार्तिकेय की मूर्तियाँ हैं। इसी देवगढ़ के मन्दिर में गजेन्द्र मोक्ष तथा हिमालय पर तपस्यारत नरनारायण की मूर्तियाँ भी हैं। उदयगिरि की गुफा में भी इससे मिलती जुलती विष्णु मूर्ति है। यहीं विष्णु के वराह अवतार की अति भव्य मूर्ति भी हैं। वराह अपनी दन्तकोटि पर लटकती हुई एक स्त्री की मूर्ति उठाए हुए हैं। सारनाथ के संग्रहालय में गुप्तयुगीन एक विशाल मूर्ति गोवर्धनधारी कृष्ण की भी है। भरतपुर के रूपवास नामक स्थान से मिली हुई बलदेव की मूर्ति 27 फीट से भी ऊँची और लक्ष्मीनारायण की मूर्ति लगभग 10 फीट ऊँची हैं। उदयगिरि गुफा में अष्ट भुजा महिषमर्दिनी की कलात्मक भव्य मूर्ति है। शैव

मत के उपास्य शिव के भी अनेक लिंग प्राप्त हुए हैं। करमदंडा (फैजाबाद) से प्राप्त शिवलिंग का ऊपरी भाग गोलाकार तथा निचला भाग अष्टकोणात्मक है। नागोद के खोह से प्राप्त एक मुखी लिंग में सुन्दर मानव मुखाकृति बनी हुई है। इसमें सिर पर रत्नजटित मुकुट, केशों के जूँड़े पर अर्धचन्द्र, ललाट पर तीसरा नेत्र, गले में हार और कानों में कुण्डल हैं। कला की दृष्टि से आँखें, नाक और होठ अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं।

**4. पकाई हुई मिट्टी की मूर्तियाँ—**मिट्टी की पकाई हुई अथवा चूने मसाले से बनी हुई मूर्तियाँ पहले भी प्राप्त होती हैं, किन्तु गुप्त युग के कलाकारों ने मृण्मयी मूर्तियों को बनाने में अद्भुत कौशल का प्रदर्शन किया। ये सम्भवतः घरों, मन्दिरों तथा स्तूपों में प्रदर्शित की जाती थी, अथवा उत्सवों में प्रयुक्त होती होगी। मिट्टी की ये मूर्तियाँ देवी, देवताओं, पुरुषों, स्त्रियों, पशु-पक्षियों तथा अन्य वस्तुओं की हैं। अहिच्छन्ना से प्राप्त पार्वती का मस्तक अपनी कलात्मकता के लिए विश्व प्रसिद्ध रहा है।

**चित्रकला—**गुप्तकाल में मूर्तिकला की ही भाँति चित्रकला का भी उत्कृष्ट विकास हुआ। इसके विश्वविख्यात उदाहरण अजन्ता और बाघ की गुहाओं के अनेक भित्तिचित्र हैं। ये चित्र मुख्यतः तीन प्रकार के हैं। (1) मुख्य चित्र के अलंकरण अथवा रिक्त स्थानों को भरने के लिए बनाई गई पुष्प, वृक्ष, पशु, पक्षी, अप्सरा, यक्ष, गन्धर्वों तथा देवी देवताओं की आकृतियाँ। (2) बुद्ध अथवा बोधिसत्त्वों के व्यक्ति चित्र (3) जातक ग्रन्थों से ली गई बुद्ध से सम्बद्ध घटनाओं के वर्णनात्मक दृश्य चित्र। इन सभी प्रकार के चित्रों में सुन्दर कल्पना, रेखाओं के प्रशंसनीय लालित्य, अभिव्यक्ति की सम्पन्नता तथा रंगों के अपूर्व समायोजन से अद्वितीय आकर्षण आ गया है।

**अजन्ता—**यह स्थल महाराष्ट्र में जलगाँव से लगभग तीस मील दूर फरदापुरा गाँव के पास है। सम्पूर्ण विश्व में कहाँ भी अजन्ता के सदृश वास्तु, मूर्ति एवं चित्रशिल्प का इतना मनोहारि एवं प्रशंसनीय सम्मिलन दृष्टिगोचर नहीं होता। अजन्ता में कुल 29 गुफाएँ हैं और इन्हें एक घोड़े की नाल के आकार की पहाड़ी को काटकर बनाया गया है। यहाँ पहाड़ियों में 25 विहार तथा चार चैत्यगृह उपलब्ध हैं। ये विहार तथा चैत्यगृह इसके चित्रों की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। यद्यपि वास्तुकला की दृष्टि से भी अजन्ता महत्वपूर्ण है किन्तु इसकी विशेष ख्याति इसके भित्तिचित्रों के कारण है। 1879 ई. में बर्जेस ने अजन्ता की सोलह गुफाओं (1, 2, 4, 6, 7, 9, 10, 11, 15, 16, 17, 19, 20, 21, 22, 26) में चित्रकारी होने की बात कही थी। किन्तु 1909 में किए गए सर्वेक्षण से उक्त तथ्य की पुष्टि नहीं हुई। ये चित्र विभिन्न युगों के हैं। इन सभी चित्रों का विषय बौद्ध है। किन्तु सामाजिक जीवन और चराचर जगत् के विभिन्न विविध विषय इसमें चित्रित हुए हैं।

अजन्ता के गुहाचित्रों में सबसे अधिक उल्लेखनीय चित्र गुहा संख्या एक में बोधिसत्त्व पद्मपाणि अवलोकितेश्वर का है। चित्र की अन्य आकृतियों की अपेक्षा बोधिसत्त्व को मनुष्य के वास्तविक आकार प्रकार से पर्याप्त बड़े आकार का चित्रित किया गया है। महायान सम्बद्धाय में बोधिसत्त्व लोककल्पाण के लिए अपने संचित पुण्यों का वितरण करने को सदैव तत्पर रहते हैं। बोधिसत्त्व वस्तुतः करुणा के प्रतीक हैं। बौद्ध धर्म में बोधिसत्त्व की यह परिकल्पना अजन्ता के इस

चित्र में मानों सजीव हो उठी है। गहरी व्यथा और करुणा की अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह चित्र भारतीय चित्रकला का आदर्श है। गुहा संख्या सोलह में मरणासन राजकुमारी का चित्र दर्शक को हठात् साश्रुनयन कर देता है। विद्वानों ने इस चित्र को बुद्ध के सौतेले भाई नन्द की पली सुन्दरी का चित्र कहा है। पति के संघप्रवेश कर लेने से भग्नहृदया तथा मरणासन राजकन्या के मुख एवं नेत्रों में निराशा, भावुकता, व्यथा और व्याकुलता के भावों का ऐसा चित्रण अकल्पनीय ही है। इसी प्रकार सत्रहवीं गुफा के भिक्षादान—चित्र में यशोधरा के मुख पर आग्रह और विवशता, पुत्र राहुल के मुख पर दीनता और आत्मसमर्पण तथा भगवान् बुद्ध के मुख पर करुणा और सहानुभूति के भाव अत्यंत सुन्दरता और सजीवता के साथ दिखाए गए हैं। स्त्री श्रृंगार के दृश्य में रेखाओं और रंगों का समानुपातिक संयोजन देखने योग्य है। हरिदत्त वेदालंकार के शब्दों में “अजन्ता के चित्रों में मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, लज्जा, हर्ष, उत्साह, चिंता, धृणा आदि सभी प्रकार के भाव; पद्मपाणि अवलोकितेश्वर, प्रशान्त तपस्वी और देवोपम राजपरिवार से लेकर क्रूर व्याध, निर्दय वधिक, साधुवेशधारी धूर्त, वार वनिता आदि सब तरह के मानव भेद; समाधि मग्न बुद्ध से लेकर प्रणय क्रीड़ा में रत दंपति और श्रृंगार में लगी नारियों तक सकल मानव व्यापार अंकित हैं।” वस्तुतः अजन्ता के चित्र तूलिका की रेखाओं और रंगों से अंकित मनोहर काव्य हैं।

**बाघ—**अजन्ता के समान ही गुप्त युगीन चित्रों का दूसरा केन्द्र मध्यप्रदेश में बाघ नाम का छोटा सा गाँव है। यहाँ विन्ध्याचल की पहाड़ियों में काटी हुई नौ गुफाएँ हैं। इनमें बहुत से चित्र मिट गए हैं, विशेषतः छतों पर के चित्र बिल्कुल दिखाई नहीं देते। चौथी और पाँचवीं गुफा के चित्र कुछ अच्छी दशा में हैं। विद्वानों की सम्मति में बाघ के ये चित्र अजन्ता के चित्रों से किसी दशा में कम नहीं हैं। किन्तु बाघ के चित्र प्रधानतः भौतिक जीवन को चित्रित करते हैं। अजन्ता एवं बाघ जैसे भित्ति चित्र सित्ततवासल तथा सिगिरिया (श्रीलंका) में भी मिले हैं।

गुप्त युग में कला के इस उत्कर्षमय विकास से यह स्पष्ट होता है कि उस युग में गुप्त सम्राटों के साथ साथ राजकर्मचारियों तथा सामान्य प्रजाजनों में भी कलाओं के प्रति आग्रह एवं अभिरुचि थी। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता जॉन मार्शल ने लिखा है कि ‘गुप्त युग के पहले की भारतीय कला में प्रकृति चित्रण, सादगी और प्रवाह बड़ी मात्रा में पाया जाता है परन्तु गुप्त राजाओं के संस्कृतियुक्त और समृद्धिशील युग में कला अधिक गम्भीर और सौन्दर्यमय हो गई।’ वास्तव में गुप्त युग के कलाकारों ने सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के आदर्श को साकार कर दिखाया।

### मध्ययुग (600 ईस्वी से 1200 ईस्वी)

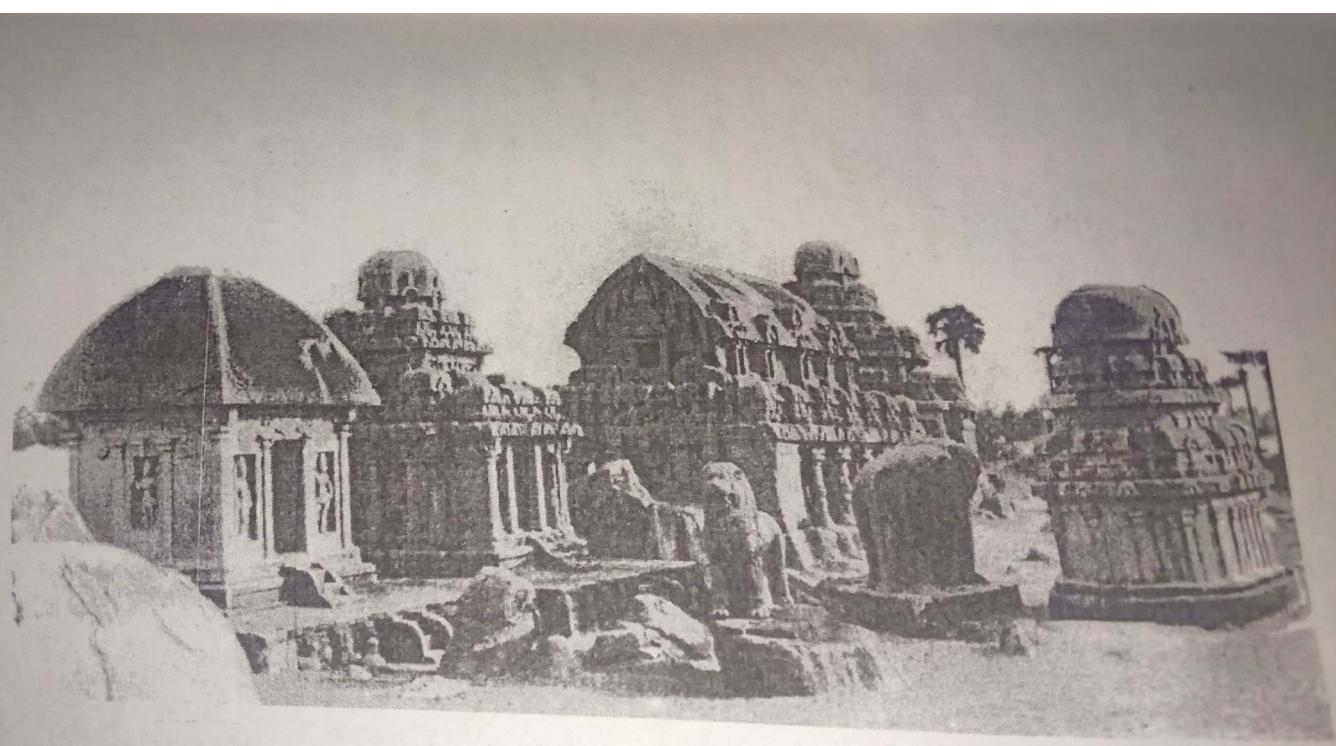
इस युग में वास्तु कला का विशेष विकास दृष्टिगोचर होता है। भारत और वृहत्तर भारत में अत्यन्त विशाल, भव्य और दर्शनीय मन्दिरों का निर्माण हुआ। गुप्त युगीन कला में नवीनता की स्फूर्ति थी, तो इस युग की कला में अलंकरण का लालित्य है। इस मध्ययुग को भी तीन तीन शतियों होती रही। किन्तु उत्तर मध्यकाल (900 से 1200 ईस्वी) में मौलिकता के लोप के साथ साथ कला होती रही। किन्तु उत्तर मध्यकाल (900 से 1200 ईस्वी) में मौलिकता के लोप के साथ साथ कला में अलंकरण के प्राचुर्य ने उन कृतियों को प्रायः ग्राम्य बना दिया। इस युग में वास्तु कला में भी दो भिन्न शैलियाँ हो गई—उत्तर भारतीय अथवा आर्य शैली और द्रविड़ शैली। दोनों शैलियों में मूल

अन्तर मन्दिर के ऊपर के शिखर का होता है। आर्य शैली के उदाहरण खजुराहो के मन्दिर और भुवनेश्वर का लिंगराज मन्दिर है तथा द्रविड़ शैली के उदाहरण मामल्लपुरम् तथा एल्लोरा के मन्दिर आदि हैं।

पूर्वमध्यकाल की वास्तुकला में चट्टानों को खोदकर विशाल देवस्थान और मनोरम मूर्तियों के निर्माण का रचना कौशल अपनी चरम सीमा को पहुँच गया। अपने अपने धार्मिक विश्वासों को मूर्त रूप देने में राजाओं ने युगों की संचित अपार धनराशि मन्दिरों, मूर्तियों तथा मूर्तिफलकों के निर्माण में लगा दी। उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण में तीन केन्द्र विशेष उल्लेखनीय हैं।

**महाबलीपुरम्**—इसे ही मामल्लपुरम् भी कहा जाता है। यह स्थान मद्रास से 32 मील दक्षिण की ओर है। दक्षिण के पल्लवनरेश नरसिंह वर्मा (630-665 ईस्वी) ने यहाँ समुद्र तट पर एक-एक चट्टान को कटवाकर बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण कराया। ये एकाशमक विमान अथवा 'रथ' पल्लव स्थापत्य एवं तक्षण के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। ये सप्तरथ (सात पैगोड़ा) नाम से विख्यात हैं। तथा इनके नाम पाण्डवों के नाम पर धर्मराज रथ, द्रौपदी रथ आदि हैं। (चित्र 12) संरचनात्मक मन्दिरों अथवा भवनों का निर्माण नीचे से ऊपर की ओर होता है किन्तु इन मन्दिरों का एक वैशिष्ट्य यह भी है कि इनका निर्माण ऊपर से नीचे की ओर हुआ है। इन मन्दिरों में दक्षिण भारत का तक्षण शिल्प सर्वप्रथम प्रौढ़ रूप में दिखाई देता है। इन मन्दिरों में द्रौपदी रथ सबसे पूर्ण रूप में है। भीमरथ की ऊपर तीन मंजिलों पर इस तरह नक्काशी की गई है कि देखने से छोटे-छोटे कक्षों का भ्रम होता है। गणेश रथ अन्य रथों से कुछ दूरी पर स्थित है। यह अत्यन्त छोटा पर बहुत सुन्दर मन्दिर है। इस मन्दिर का निर्माण बहुत कुछ उसी योजना के अनुसार किया गया है जिसे आगे चलकर द्रविड़ वास्तुकला में गोपुरम् कहा जाने लगा। यहीं खुले में एक विशाल चट्टान को खोद-खोद कर बनाया गया 90 फीट लम्बा और 69 फीट ऊँचा भगीरथ की तपस्या का दृश्य फलक भारतीय मूर्ति शिल्प का अद्भुत उदाहरण है। गंगा को भूतल पर लाने के लिए व्रत, तप और साधना में लीन भगीरथ की विशाल मूर्ति इस दृश्यफलक का मुख्य केन्द्र है। उनकी तपस्या में साहाय्य देता हुआ सम्पूर्ण विश्व ही मानों दृष्टिगोचर हो रहा है। एक ओर विशालकाय हाथी की मूर्ति, भगीरथ की तपस्या का अनुकरण करती हुई बिल्ली, उसके चरणों के पास चूहा—सभी विलक्षण बन पड़े हैं।

**एलोरा**—यह स्थल हैदराबाद राज्य में औरंगाबाद के निकट स्थित है। यहाँ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न गुफा मन्दिरों के तीन समूह हैं—ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन। इन समूहों में सर्वाधिक आकर्षक तथा मनोरम ब्राह्मण शैव गुफाएँ हैं। एलोरा में ऊबड़-खाबड़ पहाड़ों को काटकर भव्य मन्दिर बनाने का कार्य पाँचवीं शती में प्रारम्भ हो गया था। एलोरा में हिन्दू शैलकृत मन्दिरों की संख्या सोलह है। इस शिल्प का सर्वोत्कृष्ट रूप राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (8वीं शती ईस्वी) के बनवाए हुए कैलाश मन्दिर में प्राप्त होता है। (चित्र 13) वास्तु विन्यास, रचना शैली तथा एकाशमकीय स्वभाव की दृष्टि से यह अद्वितीय कलाकृति है। यह विशाल मन्दिर एक ही पत्थर का बना हुआ है तथा 190 फीट ऊँचा 142 फीट लम्बा और 62 फीट चौड़ा है। द्वारों, झरोखों, सीढ़ियों और सुन्दर स्तम्भ पंक्तियों से सुसज्जित इस मन्दिर की शोभा अवर्णनीय है। मंदिर की भित्तियों पर अनेक पौराणिक कथाएँ उत्कीर्ण हैं। इनमें रावण के द्वारा कैलास पर्वत को उठाने की कथा का दृश्य अत्यन्त ओजस्वी



चित्र 12  
महाबलीपुरम् के विभिन्न रथ



चित्र 13  
एलोरा का कैलास मन्दिर

एवं प्रभावोत्पादक है। अपनी बलशाली भुजाओं से रावण कैलास को उठाने का प्रयास कर रहा है, शिखर पर शिव पार्वती हैं तथा पर्वत हिलने से मानों गौरी भयभीत हो गई हैं।

**एलीफेण्टा**—बम्बई से छह मील दूर धारापुरी नामक टापू में एलीफेण्टा के गुफा मन्दिर भी 8वीं शती ईस्वी के हैं। यहाँ शिवताण्डव, शिवपार्वती विवाह आदि के बहुत भव्य एवं रम्य दृश्य मूर्तियों में की जाती है।

बहुत प्राचीन काल से ही भारत का सम्पर्क अपने समीपस्थ विभिन्न देशों तथा द्वीपों से रहा था। बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ भारतीय संस्कृति का प्रसार भी होता रहा और भारतीय कला एवं शिल्प ने वृहत्तर भारत में भी अनेक सुन्दर कलाकृतियों को जन्म दिया। आठवीं शती में ही जावा में शैलेन्द्र वंशी राजाओं ने बोरोबुदुर स्तूप अथवा मन्दिर का निर्माण कराया। यह स्तूप संसार के चक्कर की लम्बाई 393 फीट और सबसे ऊपरी चक्कर की 90 फीट है। इसके विविध गलियारों में बौद्ध कथाओं के 1300 दृश्य उत्कीर्ण हैं। यदि इन्हें एक के बाद एक जोड़ जाए तो इनकी लम्बाई तीन मील हो जाएगी। मूर्तियों के अनुपम सौन्दर्य और आध्यात्मिक शान्ति के कारण इस मन्दिर को 'पत्थर में तराशा गया महाकाव्य' कहा गया है।

उत्तर मध्य युग (900 ईस्वी से 1200 ईस्वी) में भारतीय कला में मौलिकता के स्थान पर कृत्रिमता ने प्रवेश कर लिया। भारत के विभिन्न केन्द्रों में इस युग की कला के अनेक अवशेष प्राप्त होते हैं। इन सभी में अलंकरण का सौन्दर्य तो अवश्य मन्त्रमुग्ध कर देता है किन्तु आध्यात्मिक प्रभाव नहीं पड़ता।

**खजुराहो**—मध्यप्रदेश में छतरपुर के समीप खजुराहो नामक स्थान पर चन्देल राजाओं का बनवाया हुआ मन्दिरों का एक समूह है जिसका निर्माण 950 ईस्वी से 1050 ईस्वी के मध्य सौ वर्षों में हुआ। इन मन्दिरों के निर्माण की शैली ही मुख्यतः आर्य शैली या उत्तर भारतीय शैली नाम से प्रसिद्ध हुई। यहाँ शैव, वैष्णव तथा जैन तीनों धर्मों के मन्दिर एक साथ बनाए गए हैं जिससे तत्कालीन धार्मिक सहिष्णुता के वातावरण का ज्ञान होता है। प्रत्येक मन्दिर ऊँचे और पक्के चबूतरे पर स्थित है। हर मन्दिर में तीन कक्ष हैं और तीनों की ऊंचाई क्रमशः बढ़ती गई है। कक्षों की छतें स्तूपाकार हैं। गर्भगृह पर ऊँचा वर्तुलाकार शिखर है जो अनेक छोटे-छोटे शिखरों से मिलकर बना है। शिखर के ऊपर आमलक, उसके ऊपर कलश और ध्वजदण्ड है। मूर्ति कक्ष के चारों ओर प्रदक्षिणा पथ है।

खजुराहो में तीस से अधिक मन्दिर हैं। लगभग हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी इनमें से अनेक मन्दिर अच्छी दशा में हैं। वास्तुशैली, सामग्री तथा रचना की दृष्टि से विद्वानों ने इन मन्दिरों का द्विविध वर्गीकरण किया है।

1. प्रारम्भिक मन्दिरों में चौंसठ योगिनी, लालगुंआ महादेव, ब्रह्मा, वराह तथा मातंगेश्वर मन्दिर रखे जा सकते हैं।

2. उत्तरकालीन मन्दिरों में लक्ष्मण, पाशवनार्थ, जगदम्बी, कन्दारिया महादेव, वामन, चतुर्भुज, दूलादेव तथा घण्टे मन्दिर उल्लेखनीय हैं।

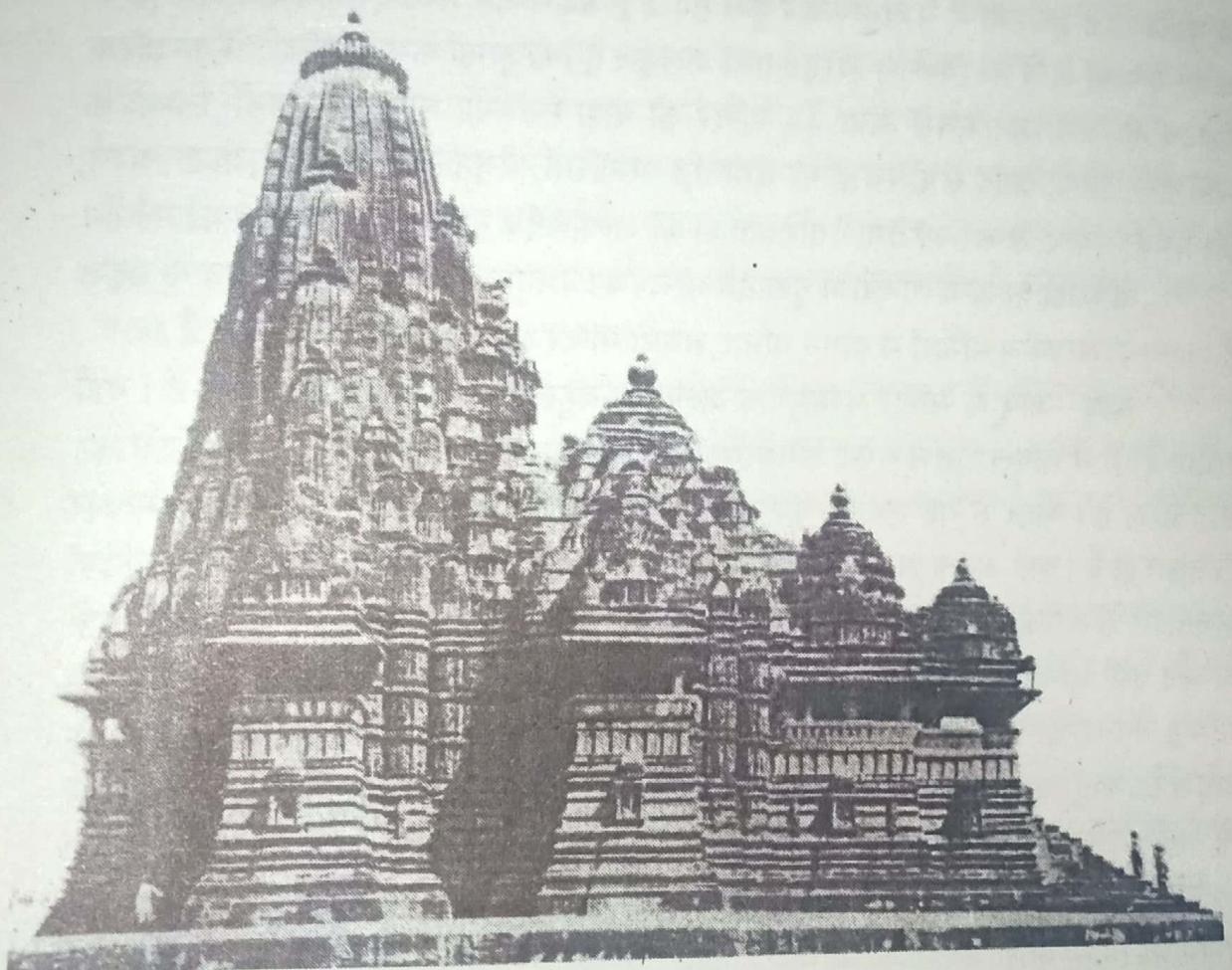
खजुराहो के मन्दिरों की छतें, दीवारें, स्तम्भ, भित्तिस्तम्भ आदि सभी सर्वथा अलंकृत हैं। छतों पर उत्कीर्ण पत्रवल्लियाँ तथा ज्यामितिक अलंकरण उच्चकोटि की शिल्पकला की रचनाएँ हैं। छत के कोनों अथवा कोष्ठकों में उत्कीर्ण नवयौवन सम्पन्ना अतीव लुभावनी अप्सराएँ तथा शाल भजिकाएँ मध्यकालीन हिन्दू मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

खजुराहो के सम्पूर्ण मन्दिर समूह में कन्दारिया महादेव का मन्दिर सबसे अधिक विस्तृत, विकसित एवं महत्वपूर्ण मन्दिर है। (चित्र 14) शिव मूलतः कन्दरा में निवास करने वाले देवता हैं अतः शिव के इस मन्दिर का यह नाम अन्वर्थ है। इसकी लम्बाई 109 फीट, चौड़ाई 60 फीट तथा भूमि से ऊँचाई 116-1/2 है। इस मन्दिर का शिखर ऊपर उठते हुए वर्गाकृत लघु शिखर समूहों से सुसज्जित है। संख्या में ये लघुशिखर कुल 84 हैं। अर्द्धमण्डप, मण्डप, महामण्डप, गर्भगृह—मन्दिर के सभी अंगों का विन्यास विस्तृत तथा अलंकृत है। खजुराहों के सारे मन्दिरों में कन्दारिया महादेव का अधिष्ठान सबसे ऊँचा है। मन्दिर की बाह्य भित्तियों, भीतर के स्तम्भों, स्तम्भों के शिरोभागों, तोरणों आदि सभी स्थलों पर संगीतरत नरनारियों, मैथुन विषयक दृश्यों, योद्धा, अश्व, हस्ति, भक्त, व्याध, अप्सराओं तथा देवीदेवताओं की अत्याकर्षक तथा सुन्दर मूर्तियाँ बनाई गई हैं।

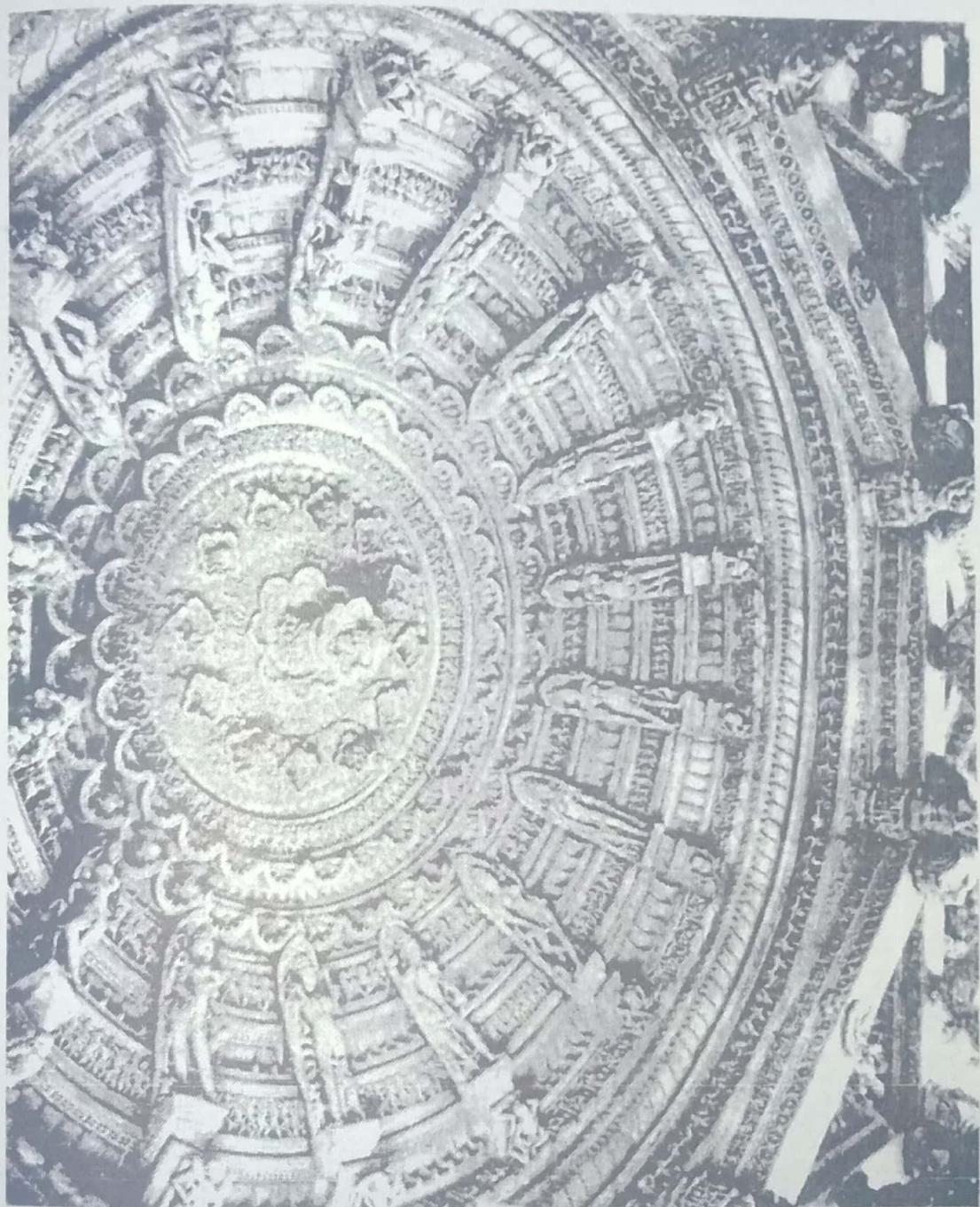
खजुराहो के अन्य मन्दिरों में दूलादेव मन्दिर का वास्तुशिल्प कन्दारिया महादेव के सदृश है। अन्य उल्लेखनीय मन्दिरों में वामन मन्दिर, जवारी मन्दिर तथा चतुर्भुज मन्दिर आदि हैं।

**आबू**—आबू के मन्दिर मध्ययुगीन अलंकरण-बहुल शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। यहाँ 1032 ईस्वी में विमलशाह ने सफेद संगमरमर का मन्दिर बनवाया। यह 98 फीट लम्बा और 43 फीट चौड़ा है। बाहर से यह एकदम सपाट है किन्तु मन्दिर के भीतरी भाग में कला का चमत्कार विलक्षण ही है। वहाँ अनेक अलंकृत स्तम्भ, ऊपर शुंडाकार छत तथा उसमें बनी अनेकानेक मूर्तियाँ कलाकारों के अथक परिश्रम तथा कालकौशल की जीवन्त साक्षी हैं। (चित्र 15) लगभग दो सौ वर्षों के बाद इसी मन्दिर के बिल्कुल पास वास्तुपाल तथा तेजपाल नामक दो भाईयों ने देलवाड़ा का प्रसिद्ध जैन मन्दिर बनवाया। यह मन्दिर भी निर्माण शैली की दृष्टि से तो विमलशाह के मन्दिर के सदृश है किन्तु भारतीय कला की सर्वोत्कृष्ट कुशलता यहाँ परिलक्षित होती है। (चित्र 16) मूर्तियों से अलंकृत स्तम्भ, नृत्यरत मूर्तियों से सुसज्जित छतें, कमानीदार सुन्दर नक्काशी के तोरण —सभी विलक्षण एवं भव्य हैं। मन्दिर में प्रवेश करते ही संगमरमर पर अंकित इस कलासाम्राज्य को देखकर दर्शक को किसी अलौकिकता का आभास होता है। संगमरमर पत्थर पर किया गया यह सारा बारीक काम ऐसा लगता है मानों कला का आधार पत्थर न होकर मोम हो।

**चोल कला**—दक्षिण में चोल वंशीय राजाओं ने कला प्रेम की परम्परा को जीवित रखा। ये अपने भव्य भवनों, विशाल प्रासादों, देवालयों तथा धातु और पत्थर की बनी हुई मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। चोल मन्दिरों की विशेषताएँ उनके उत्तुंग शिखर तथा अलंकृत स्तम्भ पंक्तियों वाले विशाल मण्डप और विस्तृत आंगन हैं। परवर्ती कला में तो उनके गोपुरम् (मुख्य द्वार) कभी-कभी मुख्य मन्दिर से भी ऊँचे बनने लगे। ये मन्दिर चोल कालीन द्रविड़ शैली का विकसित स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। चोलकाल के अनेक मन्दिर हैं किन्तु चोल वास्तुकला की सर्वोत्तम कृतियाँ तंजौर का बृहदीश्वर अथवा राजराजेश्वर मन्दिर (दसवीं शती ईस्वी का उत्तरार्ध) और गंगौकोड़चोलपुरम् का



चित्र 14  
खजुराहो कन्दरिया महादेव



चित्र 15  
आबू के विमलशाह निर्मित मन्दिर की छत



चित्र 16  
देलवाड़ा का जैन मन्दिर

गंगैकोडचोलेश्वर मन्दिर (बारहवीं शती का पूर्वार्ध) है। (चित्र 17) राजराजेश्वर मन्दिर शैव मन्दिर है तथा यह 1009 ईस्वी में बन कर पूर्ण हुआ। यह मन्दिर  $500 \times 250$  फीट के परकोटे के अन्दर बना हुआ है जिसमें गोपुरम् पूर्व की ओर बनाया गया है। इसका विशाल विमान (शिखर) 190 फीट ऊँचा है जिसमें 13 तल हैं। शीर्ष पर एक ही प्रस्तर खण्ड का विशाल 25 फीट ऊँचा गुम्बद है। नीचे से ऊपर तक यह विशाल मन्दिर मूर्तियों और विभिन्न अलंकरणों से सुसज्जित है। दक्षिण भारतीय स्थापत्य में युगप्रवर्तक यह मन्दिर भारतीय शिल्पियों द्वारा बनाए गए सभी मन्दिरों में सबसे ऊँचा तथा सबसे बड़ा है। गंगैकोडचोलेश्वर मन्दिर की शैली राजराजेश्वर मन्दिर के समान ही है किन्तु इस मन्दिर में कला का अधिक परिष्कृत रूप है तथा मूर्तियाँ अत्यन्त भव्य हैं। भूमि से इसका विमान 150 फीट ऊँचा है। चारों ओर प्राकार से घिरे हुए इस मन्दिर का मुख्य द्वार पूर्वदिशा की ओर है। भीतर का सभामण्डप 175 फीट लम्बा तथा 95 फीट चौड़ा है जिसमें 150 स्तम्भ हैं। कुम्भकोणम् के समीप निर्मित कम्पहरेश्वर मन्दिर (12वीं शती का अन्त) चोलकला के विशाल मन्दिरों की परम्परा का अन्तिम भव्य स्मारक है।

चोलकाल में धातु की मूर्तियाँ बनाने की कला का भी पर्याप्त विकास हुआ। शिव, ब्रह्मा, सप्तमातृकाएँ, विष्णु, लक्ष्मी, राम, सीता, कालिय फन पर नृत्यरत कृष्ण तथा अन्य अनेक प्रकार की मूर्तियाँ इस काल के कलाकारों तथा धातुकारों की कुशलता को प्रगट करती हैं। काँसे की बनी हुई नटराज की विश्वविख्यात मूर्ति इसी काल की है।

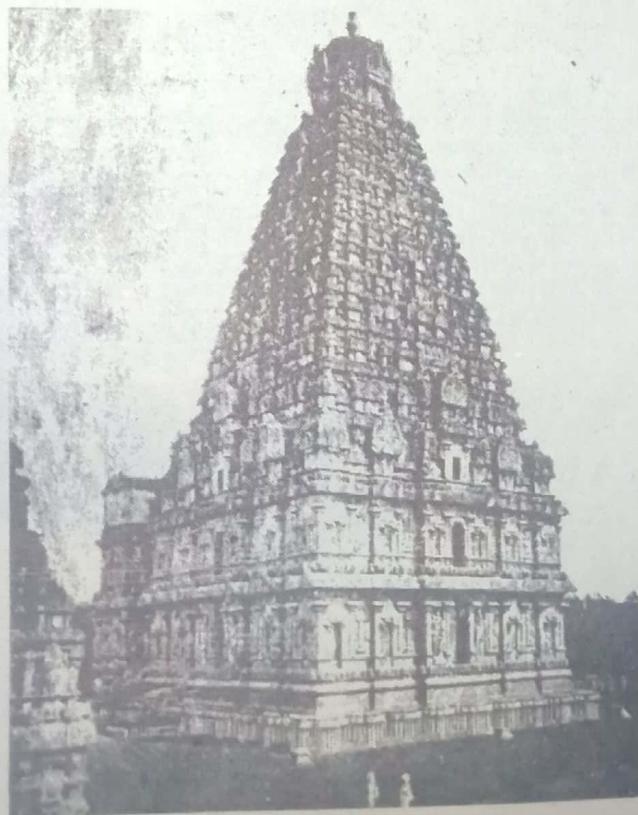
**चालुक्य शैली**—वास्तुकला की आर्य और द्रविड़ शैलियों का सम्मिश्रित रूप कल्याणी के चालुक्य राजाओं के द्वारा बनवाए गए मन्दिरों में प्राप्त होता है। सम्पूर्ण मध्यकाल में चालुक्य सम्राटों के बनवाए हुए मन्दिर उनकी राज्य सीमाओं में स्थल-स्थल पर मिलते हैं। हैदराबाद राज्य में इष्टगी नामक स्थल पर महादेव मन्दिर (बारहवीं शती ईस्वी पूर्वार्ध)  $120 \times 60$  फीट का है। इसकी रचना बहुस्तम्भी शैली में की गई है। इसके मुख्य कक्ष में विशाल परिमाण के 68 स्तम्भ थे। धारवाड़ में लकुण्डी या लोकिकगुण्डी नामक स्थल पर काशीविश्वेश्वर मन्दिर (बारहवीं शती ईस्वी उत्तरार्ध) अलंकृत चालुक्य कला शैली का सुन्दर उदाहरण है। काशीविश्वेश्वरमन्दिर के दोनों छोरों पर दो शिखर हैं अतः यह एक मन्दिर न होकर मन्दिरद्वय है।

**होयसल कला**—मैसूर में द्वारसमुद्र के होयसल राजाओं ने चालुक्य शैली को ही और अधिक परिष्कृत करके उसको चरम सीमा तक पहुँचा दिया। वस्तुतः होयसल शैली अपनी पूर्ववर्ती चालुक्य शैली का ही विकसित रूप थी। इस शैली के मन्दिर तरे की आकृति के अथवा बहुकोणीय हैं। द्रविड़ शैली के अन्य मन्दिरों की अपेक्षा इनका शिखर अपेक्षाकृत कम ऊँचा है, किन्तु मन्दिरों के आधार का मंच बहुत ऊँचा लिया गया है। मंच की बाहरी भित्तियाँ एक के ऊपर दूसरी पत्थर की पट्टियों से बनी हैं जो विभिन्न मूर्तियों से अलंकृत हैं। ‘इस कला में कलाकारों ने हाथीदाँत या सुनारों पट्टियों से बनी हैं जो विभिन्न मूर्तियों से अलंकृत हैं।’ होयसल मन्दिरों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण श्रीरंगपत्तन के काम की बारीकी को पत्थरों में उतार दिया है। होयसल मन्दिरों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण श्रीरंगपत्तन से तीस मील दूर सोमनाथपुर का केशव मन्दिर, वेल्लूर का केशव मन्दिर तथा हलेविद या दोरसमुद्र का होयसलेश्वर मन्दिर हैं। होयसलेश्वर मन्दिर की ऊपरी संरचना (शिखर) दर्शक को पर्याप्त निराश करती है क्योंकि इस मन्दिर पर एक विलक्षण छत है, शिखर है ही नहीं। तथापि भारतीय स्थापत्य

के इतिहास में यह अत्यन्त आश्चर्यजनक मन्दिर है। हलेबिद के इस मन्दिर के आधार मंच में नौ शिला पट्टियाँ हैं। इनमें प्रत्येक 700 फीट लम्बी है और सभी शिलापट्टिकाएँ विभिन्न मूर्तियों तथा अलंकरणों से पटी पड़ी हैं। सबसे नीचे की प्रथम शिला पट्टिका में ही 2000 हाथियों की मूर्तियाँ हैं जो सब परस्पर भिन्न भिन्न हैं। विद्वानों की सम्मति में विश्व के अन्य किसी मन्दिर के बाहरी भाग में खुदाई की ऐसी अद्भुत कला देखने को नहीं मिलती।

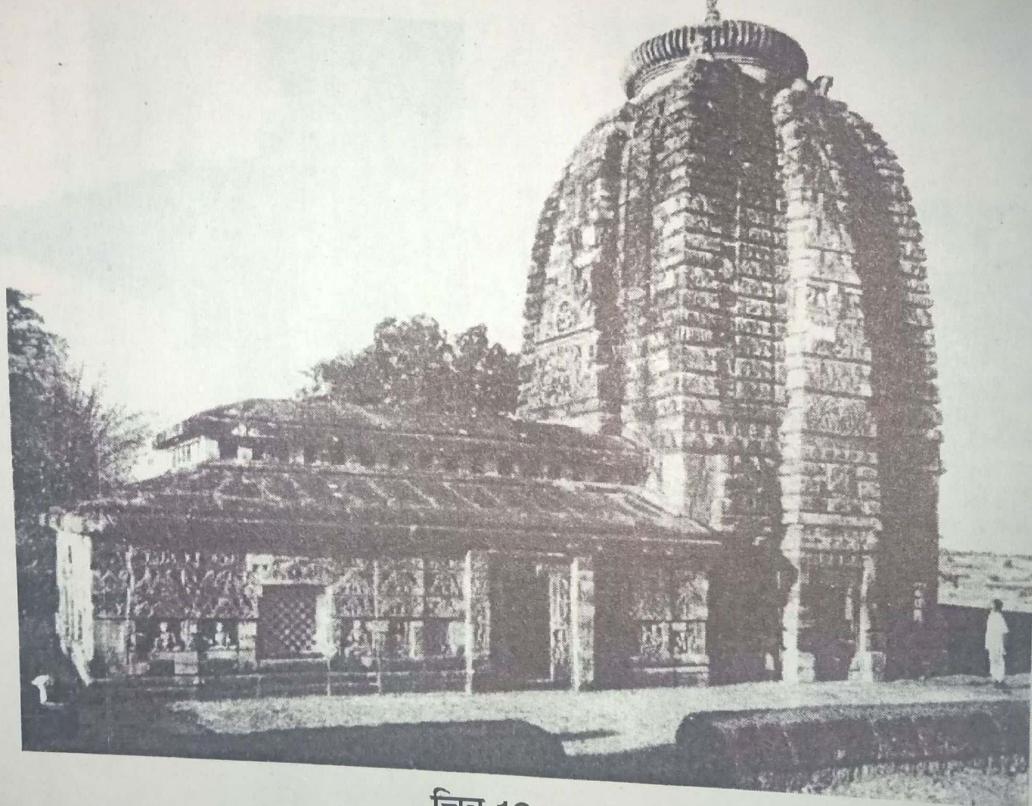
**उड़ीसा—**वास्तुकला की नागर शैली का सर्वोत्तम मौलिक रूप उड़ीसा के मन्दिरों में प्राप्त होता है। सातवीं शती ईस्वी से तेरहवीं शती ईस्वी तक यहाँ के विभिन्न शासकों ने मन्दिरों के निर्माण को भरपूर संरक्षण दिया। विदेशी आक्रमण भी भारत के इस भूभाग को नहीं के बराबर झेलने पड़े। अतः यह कथन सत्य ही है कि 'सारे भारत वर्ष में पाए जाने वाले कुल मन्दिरों से भी अधिक मन्दिर केवल उड़ीसा में ही हैं। उड़ीसा में मन्दिर का जातीय नाम 'घूल' है। 'प्रारम्भ में मन्दिर का गर्भगृह घूल के सामने मण्डप की भाँति एक सभाभवन होता है जिसे 'जगमोहन' कहते हैं। ये दो संरचनाएँ वस्तुतः उड़ीसा मन्दिर के मौलिक एवं मूल तत्व हैं। स्थापत्य एवं पूजाविधि के विकास के साथ मन्दिरों में अन्य अनुकाय अंगों का भी विकास होता गया।' उड़ीसा के मन्दिरों की एक अन्य विशेषता यह है कि मन्दिर की भीतरी दीवारें एकदम सादी तथा अलंकरण रहित हैं, किन्तु मन्दिर का वाह्य भाग विभिन्न अलंकरणों और मूर्तियों से भरा पड़ा है। मन्दिर बहुल उड़ीसा में केवल भुवनेश्वर मन्दिर (आठवीं शती ईस्वी) उड़ीसा की वास्तुकला का प्रथम दर्शनीय स्थल है। (चित्र 18) इसका शिखर 44 फीट ऊंचा है। यहाँ इसी नगर का लिंगराज मन्दिर (1000 ईस्वी) अपनी विशालता, भव्यता और अलंकरण के कारण सर्वाधिक प्रसिद्ध है। (चित्र 19) इसका शिखर 160 फीट ऊंचा है। एक दृढ़ और ऊंचे परकोटे के अन्दर 520 X 465 फीट भूमि के केन्द्रीय भाग में बना हुआ मन्दिर किसी भी आक्रमण के समय सेनाओं से रक्षित किया जा सकता था। यह मन्दिर चारों ओर अन्य छोटे-छोटे किन्तु सुन्दर अलंकृत मन्दिरों से घिरा हुआ है। पुरी का जगन्नाथ मन्दिर (1110 ईस्वी) प्रसिद्ध तीर्थ के रूप में विख्यात है। कोणार्क का प्रसिद्ध सूर्यमन्दिर राजा नरसिंहदेव (1238-1264 ईस्वी) ने बनवाया था। यह सम्पूर्ण देवल रथ के आकार का बनाया गया था जो दोनों ओर बारह-बारह पहियों पर खड़ा है। प्रत्येक पहिया 10 फीट ऊंचा है और उन्हें सात शक्तिशाली धोड़े खींच रहे हैं। पास में दो सुसज्जित हाथी खड़े हैं। मन्दिर की विशालता, अलंकरणों की सुन्दरता और मूर्तियों की सजीवता आश्चर्यभित्त कर देती है। सम्पूर्ण मन्दिर की दीवारों में शिल्पियों ने संसार के विविध विषय उत्कीर्ण किये हैं। इन मूर्तियों के मिथुन संबंधी दृश्य कठोरतया आलोचित भी हुए हैं। आज यह मन्दिर भग्नावस्था में है। सम्भवतः यह मन्दिर पूरा भी नहीं बन पाया था। किन्तु कोणार्क का यह सूर्यदेवल भारतीय स्थापत्य, वास्तु एवं मूर्ति कला का सुन्दर निर्दर्शन है। उड़ीसा में नागर शैली का विकासक्रम भुवनेश्वर और पुरी के मन्दिरों से होता हुआ कोणार्क के सूर्यमन्दिर में परिपक्वावस्था और चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ है।

उत्तर मध्य काल की भारतीय वास्तुकला एवं मूर्तिकला के कतिपय विलक्षण नमूने वृहत्तर भारत में भी उपलब्ध होते हैं। नवी शती में जावा के एकराजा दक्ष ने प्रांवनन में शिव क्षेत्र स्थापित



चित्र 17

तंजौर का बृहदीश्वर अथवा राजराजेश्वर मन्दिर  
(ऊपर सम्पूर्ण मन्दिर, नीचे गोपुरम्)



चित्र 18  
भुवनेश्वर का परशुरामेश्वर मन्दिर



चित्र 19  
भुवनेश्वर-लिंगराज मन्दिर

किया था जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और शंकर के मन्दिरों का निर्माण किया गया। इन मन्दिरों की भित्तियों पर राम और कृष्ण की अनेक लीलाएँ भी उत्कीर्ण हैं। यहाँ शंकर की दो प्रकार की मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। देवता के रूप में शिवमूर्ति के मुख पर अपरिसीम गम्भीरता तथा शान्ति का भाव है तथा ऋषि के रूप में शिवमूर्ति के मुख पर दाढ़ी और जटाजूट दिखाए गए हैं। जावा के ही एक राजा अमुर्वभूमि (तेरहवीं शती इस्वी) के काल की एक अत्यन्त सुन्दर बौद्ध मूर्ति है जिसके मुख पर मुदिता, मैत्री, करुणा एवं उपेक्षा के सम्मिलित भावों के कारण शान्त रस मानों साकार हो उठा है।

उत्तर मध्यकाल की भारतीय कला का सर्वाधिक विलक्षण स्मारक वृहत्तर भारत के वर्तमान कम्बोडिया में है। अंकोर वाट नामक इस मन्दिर का निर्माण राजा सूर्यमवर्मन् द्वितीय ने कराया था जिसने 1113 ईस्वी से 1145 ईस्वी तक कम्बुज पर शासन किया था। मनुष्य द्वारा अद्यावधि बनाई गई धार्मिक इमारतों में यह मन्दिर विशालतम् माना जाता है। आकार, भव्यता, सौन्दर्य और दक्षता सभी दृष्टियों से यह अनुपम है। अंकोरवाट नीचे से चौड़े और ऊपर से पतले मन्दिरों का सर्वोत्कृष्ट रूप है। इस स्मारक की निर्माण योजना का प्रारूप ही अपनी विशालता से दर्शक को स्तम्भित कर देता है। मन्दिर के चारों ओर दो सौ मीटर चौड़ी खाई थी जो लगभग एक मील वर्गाकार थी। एक के ऊपर एक तीन चबूतरों पर क्रमशः मन्दिर का निर्माण हुआ। मन्दिर की वीथियों की भित्तियों पर पत्थर को खोद खोद कर रामायण, महाभारत तथा अन्य पौराणिक कथाओं के अनेक दृश्यों का चित्ताकर्षक चित्रण किया गया है। 'मन्दिर को सजाने के लिए मूर्तिकला का जिस प्रकार प्रयोग किया गया है वह इसकी रचना के सर्वथा अनुकूल है। प्रायः हर सजावट को कशीदाकारी की तरह निभाया गया है। यह सजावट हर जगह है, अदृश्य से अदृश्य कोने में भी इसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इसका निर्माण यात्रियों को आकर्षित करने के लिए नहीं, वरन् अपने इष्टदेव को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए किया गया था। सजावट की बारीकी चरम सीमा तक पहुँचा दी गई है। दर्शक को जहाँ खाई के पत्थरों पर छेनी से काटकर बनाई गई दस किलोमीटर लम्बी बेलबूटों की नक्काशी की कलात्मकता और इस पर आने वाली लागत पर आश्चर्य होता है; वहाँ वह सारी कगर भर के ऊपर लगे हुए 10,000 सजावटी पत्थरों की नक्काशी की कल्पना करके स्तम्भित रह जाता है। ये इतने नाजुक थे कि आज इनका एक भी पूरा नमूना नहीं मिलता।' वस्तुतः अंकोरवाट का यह मन्दिर एक ऐसा अद्भुत उपहार है जो कम्बुज की ओर से भारतीय संस्कृति की समर्पित किया गया। इस मन्दिर में भारतीय आत्मा सम्पन्न निवासियों की धार्मिक आस्था और कला प्रेरणा समग्र रूप से प्रतिबिम्बित हो रही है।

अनन्तः यही प्राचीन भारत की कला का संक्षिप्त इतिहास है। प्राचीन भारत के भव्य जीवन का यह एक गौरवपूर्ण अध्याय है। इस अध्याय में उस सृजनात्मक भावना की परिपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है जिस पर किसी भी राष्ट्र और उसके निवासियों को समुचित गर्व हो सकता है। सम्पूर्ण भारत के दीर्घ विस्तार में इस कला के अवशेष चतुर्दिक् बिखरे पड़े थे। ये अवशेष पुनःपुनः यही सन्देश देते हैं कि वास्तविक कला वही है जो अनायास ही मानव मात्र के अन्तःकरण को प्रसन्न करके उदात्त भावनाओं को जागृत कर दे। इसीलिए कला को सत्य, शिव और सुन्दर कहा गया है।

